प्रह्लाद

(प्राच्यविद्याओं की त्रैमासिक शोध-पत्रिका)

सम्पादक

डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश'
पी-एच.डी., डी.लिट्.

संयुक्त-सम्पादक

डॉ० विनोदचन्द्र सिन्हा
एम.ए. पी-एच.डी.

वर्ष : १९८५] (जनवरी से मार्च तक) [अङ्क : १

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रधान संरक्षक

श्री बलभद्रकुमार हूजा

कुलाधिपति

संरक्षक

श्री रामप्रसाद वेदालंकार

आचार्य एवं उप-कुलपति

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ० राधेलाल वार्ष्णेय, जनसम्पर्क अधिकारी

व्यवस्थापक

जगदीश विद्यालंकार

प्रकाशक

वीरेन्द्र अरोड़ा, कुलसचिव

विषय—सूची

'प्रह्लाद' के मुख-पृष्ठ पर अंकित चित्र का विवरण

गुप्तकालीन मृण्मूर्ति

आवक्ष, पुरुष प्रतिमा

गुरुकुल संग्रहालय नं० २४३/३५ (८×५.५×२ से० मी०) : मथुरा से प्राप्त यह प्रतिमा पाँचवीं शती ई० की है। यह गेहुँए रंग की मिट्टी से निर्मित है। इस प्रतिमा में पुरुष कलापूर्ण ढंग से केश-विन्यास किए हुए है। केशों की रचना अलकावली के रूप में दिखाई गई है जो मस्तक के दोनों ओर पंक्तिरूप से कन्धों पर लहराते हुए भव्य रूप में सज्जित हैं। पुरुष का गोल चेहरा, ओठों पर रहस्यमयी मुस्कान, आँखें उन्मीलित, माँसपेशियों का अभाव और कानों में कुण्डल हैं। प्रतिमा में ऊपर की ओर एक छिद्र है। सम्भवतः इस छिद्र का उपयोग प्रतिमा को दीवार पर टाँगने के लिए किया जाता था।

इस प्रतिमा में सौन्दर्य और रूप-सज्जा की भावना स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है। यह प्रतिमा कला की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है।

—**सुखवीर सिंह**
सहायक क्यूरेटर
पुरातत्व संग्रहालय

———

वेदामृतम्

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी य थौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ अथर्व १२-१-४५

भाषा और धर्म-भेद से भेद नहीं

शब्दार्थ—(बहुधा) अनेक प्रकार से, (विवाचसम्) विभिन्न भाषा बोलने वाले, (नानाधर्माणं) विभिन्न धर्मों के मानने वाले (जनम्) लोगों को, (यथा ओकसम्) एक घर में रहने वाले व्यक्तियों की तरह (बिभ्रती) धारण करती हुई (पृथिवी) भूमि (ध्रुवा) स्थिर, निश्चल (अनुपस्फुरन्ती) न बिदकने वाली, (धेनुः इव) गाय की तरह (मे) मुझे, (द्रविणस्य) धन की, ऐश्वर्य की, (सहस्रं-धाराः) सहस्रों धाराएँ (दुहाम्) दूध दें ।

भावार्थ—अनेक प्रकार से विभिन्न भाषा बोलने वाले और विविध धर्मों को मानने वाले लोगों को एक परिवार के तुल्य धारण करने वाली पृथिवी, निश्चल एवं न बिदकने वाली गाय की तरह, मुझे ऐश्वर्य की सहस्रों धाराएँ प्रदान करे ।

अनुशीलन—अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त के इस मन्त्र में अत्युत्तम राष्ट्रीय शिक्षा दी गई है, मन्त्र का कथन है कि इस पृथिवी पर नाना भाषाएँ बोलने वाले लोग रहते हैं । इसी प्रकार विभिन्न धर्मों वाले लोग भी रहते हैं । ये सभी पृथिवी के लिये एक परिवार के व्यक्ति हैं । पृथिवी भाषाभेद और धर्मभेद से किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं करती है, उसी प्रकार पृथिवी पर रहने वाले सभी नागरिकों का कर्तव्य है कि वे भाषा-भेद और धर्म-भेद के आधार पर कोई भेद-भाव न करें । इस दोष को दूर करने का उपाय बताया गया है कि विभिन्न भाषा और धर्म के लोगों को परिवार का एक अंग समझें । सब में पारिवारिक सद्भावना उत्पन्न होने पर किसी प्रकार का कोई वैमनस्य नहीं हो सकेगा ।

मन्त्र में दूसरी बात कही गई है कि यह पृथिवी शांत गाय की तरह हमें ऐश्वर्य दे, शांत गाय जिस प्रकार अधिक से अधिक दूध देती है, उसी प्रकार यह पृथिवी भी प्रसन्न होकर हमें सभी प्रकार का ऐश्वर्य दे । उचित समय पर यदि वर्षा हो, सिंचाई की व्यवस्था ठीक हो तो पृथिवी सुवर्ण उगल सकती है । धन-धान्य आदि के लिए सामूहिक परिश्रम की आवश्यकता है । सामूहिक परिश्रम और सिंचाई आदि की समुचित व्यवस्था होने पर पृथिवी हमारे लिये कामधेनु हो सकती है ।

—डा० कपिलदेव द्विवेदी

युवा-क्षमता का सदुपयोग

बलभद्रकुमार हूजा
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

भारत जैसे महान देश के लिये यह अत्यन्त गम्भीर प्रश्न है कि हम उस के उत्थान हेतु युवाक्षमता का किस प्रकार उपयोग करें। यह निर्विवाद है कि किसी देश का युवा वर्ग ही उसकी रीढ़ की हड्डी के समान होता है, जिस पर राष्ट्र का वर्तमान तथा भविष्य निर्भर होता है। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में युवा-शक्ति ने जो शानदार भूमिका निभाई, उसका वर्णन सदा स्वर्ण अक्षरों में किया जायेगा। ऐसे महत्वपूर्ण युवा वर्ग को सुदृढ़ एवं उन्नत बनाना राष्ट्र की सर्वप्रथम आवश्यकता है।

पहला प्रश्न यह है कि युवाशक्ति से हम किस प्रकार का सहयोग लें अथवा युवाशक्ति का किस प्रकार सदुपयोग करें? इस पर विचार करने से पूर्व हमें सोचना होगा कि वे महत्वपूर्ण आवश्यकताएं क्या हैं, जिनके लिये युवा-शक्ति की सहायता अपेक्षित है? आवश्यकताओं का समुचित आंकलन करने हेतु हमें युद्ध तथा शान्ति दोनों ही परिस्थितियों पर विचार करना होगा।

जहाँ तक युद्ध की परिस्थितियों का सम्बन्ध है, यह निश्चित है कि वहाँ युवा-शक्ति के बिना काम नहीं चल सकता और युवाशक्ति ही सैनिकों के वेश में देश की सीमाओं की रक्षा करती है।

शान्ति की परिस्थितियों में हमारी सबसे बड़ी आवश्यकताएं हैं— बेकारी तथा दरिद्रता का उन्मूलन, भ्रष्टाचार निवारण, दहेज-प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष, प्रौढ़-शिक्षा, महिला-उद्धार, हरिजन-उद्धार, प्रदूषण-निवारण, वन-रक्षा, लोकतान्त्रिक अनुशासन की स्थापना तथा देश की एकता एवं अखण्डता की रक्षा।

इनमें सर्वप्रथम बेकारी तथा दरिद्रता उन्मूलन का प्रश्न आता है। इस के साथ ही नैतिकता तथा भ्रष्टाचार निवारण के प्रश्न जुड़े हुए हैं। आज

हमारा युवावर्ग १४-१६ वर्ष तक पठन-पाठन करने के उपरान्त भी अपने आप को उस समय अत्यन्त निस्सहाय, तिरस्कृत और छला हुआ महसूस करता है, जब वह अपनी शिक्षा के अनुरूप व्यवसाय प्राप्त नहीं कर पाता। इससे यह तो स्पष्ट है ही कि हमारी शिक्षापद्धति दोषपूर्ण है । अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य की अवस्था में किसी न किसी क्रिया-कौशल में दक्ष बनायें, जिससे वह स्नातक स्तर पर पहुँचते-पहुँचते स्वावलम्बी बन सकें और बेकारी के भंवर में न फँसें। कहावत है—बुभुक्षितः किं न करोति पापम्.........? अतः युवा वर्ग को भुखमरी से बचाना, उसकी कार्यक्षमता तथा कौशल बढ़ाना हमारा पहला कर्तव्य है । स्वावलम्बी युवावर्ग स्वदेश प्रेमी हो तो सोने में सुहागा है ।

प्राकृतिक दृष्टि से भारत एक बहुत समृद्ध देश है, किन्तु बावजूद छः पंचवर्षीय योजनाओं के, भारत की अर्थ-व्यवस्था अभी भी इतनी असन्तुलित है कि इसकी अधिकाँश जनता अभावग्रस्त है । इस असन्तुलन और वैषम्य को मिटाना हमारा परम कर्तव्य है। आज अमीर और गरीब दो परस्पर विरोधी वर्ग बन गये हैं। ऐसी विषद् आर्थिक विषमता के मिटने से ही भ्रष्टाचार दूर होगा, तभी नैतिकता का वातावरण उत्पन्न होगा। और देश से दहेज जैसी कुप्रथाएँ दूर होंगी। सही अर्थों में देखा जाये तो दहेज का दूसरा नाम लड़कों अथवा पतियों की बिक्री ही तो है। एक सुसंस्कृत, समृद्ध समाज में पति बिकेंगे नहीं, किन्तु स्वयं वरे जायेंगे।

इसके साथ ही महिला-उद्धार, प्रौढ़-शिक्षा, हरिजनोद्धार की समस्याएँ जुड़ी हैं। नारी शक्ति देश की आधे से अधिक शक्ति है । आधी तो संख्या के हिसाब से और अधिक इसलिये कि इसमें मातृ-शक्ति, भगिनीशक्ति, पत्नी-शक्ति तथा पुत्रीशक्ति निहित है, जो युवा शक्ति पर अदृष्ट किन्तु असीमित प्रभाव डालती है, इन्हें जागृत करने का भार भी प्रबुद्ध वर्ग पर ही है ।

अभाव के अतिरिक्त हमारा समाज अज्ञान के अन्धकार से ग्रसित है। यूँ भी कहा जा सकता है कि अज्ञान के कारण हमारा समाज अभावग्रस्त है । अज्ञान के कारण ही पाखण्ड फलते-फूलते हैं, कुरीतियाँ समाज में घर करती हैं। मानव और प्राकृतिक सम्पत्ति का विकास नहीं होता। राष्ट्रीयता की भावना जातीयता के नीचे दब जाती है। फलस्वरूप देश की अखण्डता खतरे में पड़ जाती है। सारांश में समाज अपंग बनता है।

अज्ञान के निवारण और विज्ञान के प्रसार में प्रबुद्ध और जागृत युवा-शक्ति यथेष्ठ योगदान दे सकती है । अज्ञान और अभाव दूर हुआ तो अन्याय की गुंजायश ही कहाँ रह जायेगी ?

अतः हम लौट-फिर कर वहीं आते हैं कि हम युवावर्ग को ऐसी शिक्षा दें जिसके द्वारा उनमें किसी कार्य-कौशल के अतिरिक्त पौरुष, नैतिकता और देश-भक्ति का विकास हो।

मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा में जगह-जगह पर दो राहों पर आ खड़ा होता है। उसको सोचना होता है कि किधर जाऊँ, किधर न जाऊँ, अब कौन सा रास्ता पकड़ूँ? सही या गलत रास्ते का ज्ञान करने हेतु उसे विवेक की आवश्यकता होती है। विवेक शक्ति जागृत हो जाये तो मनुष्य सही रास्ता ही पकड़ेगा।

विवेकशक्ति जागृत करने हेतु हम वैदिक और संस्कृत-साहित्य का आश्रय ले सकते हैं। प्रत्येक साधक या राहगीर के जीवन में वेद और संस्कृत सुभाषित मार्ग-दर्शक के रूप में सिद्ध हो सकते हैं। वेद का वाक्य—

"उत्तिष्ठत् जाग्रत प्राप्य वशन्निबोधत" सुस्त, हतोत्साह, तमस से घिरे हुए मनुष्य को उठने और आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। "इशावास्यमिदं ...." इत्यादि मनुष्य को ईश्वरीय शक्ति का आभास कराते हुए लालच से बचाता है।

इसी प्रकार संस्कृत का यह सुभाषित—"मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु-लोष्ठवत्, आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पंडितः।" भी एक बड़ा भारी पथ-प्रदर्शक है।

गीता के सोलहवें अध्याय के पहले तीन श्लोकों में उन गुणों का वर्णन है, जिनके विकास से सात्विक प्रवृत्ति जागृत होती है, अर्थात् अभय, सहृदयता, दान, यज्ञ, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, दया, तेज, क्षमा, धृति, शौच, इत्यादि ये गुण केवल अभ्यास से ही प्राप्त किये जा सकते हैं।

अभ्यास हेतु आधारभूत आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है। धन्य हैं वे बालक बालिकाएँ, जिनको ब्रह्मचर्यावस्था में ऐसे माता-पिता एवं आचार्य मिलते हैं, जो गुणों का स्वयं अभ्यास करते हुए अपने आचार-विचार से उनको प्रेरित करें।

आज के नवयुवकों के सामने यह प्रश्न उभर कर आ रहा है कि वे २१वीं सदी में क्या भूमिका निभायेंगे। वैदिक आदर्श के अनुसार उन्हें पितृ-ऋण, देव-ऋण तथा ऋषि-ऋण से उऋण होना है।

पितृ-ऋण से उऋण होने की खातिर ही तो भगीरथ ने प्रचण्ड तपस्या करके गंगा को शिवजी की जटा से मुक्त कराया था । आज देश को ऐसे ही समर्थ, सशक्त, तपस्वी नवयुवकों की आवश्यकता है। अतः नवयुवकों का पहला कार्य भगीरथ जैसा व्यक्तित्व पैदा करना है। तत्पश्चात् भगीरथ को तरह देश की समस्याओं से जूझने का है। तभी तो देश में सुख, शान्ति की गंगा का अवतरण होगा ।

देव-ऋण से अर्थ है, अपनी शक्तियों का स्वस्थ विकास करना तथा सबके हित में अपना हित समझना। जब यह भावना पैदा हो जाये तो फिर जीवन में लड़ाई-झगड़ा, अन्याय तथा लोलुपता का स्थान रहता ही नहीं । मन, वाणी और कर्म स्वतः संयमित होने लगता है और पारस्परिक सहयोग की भावना का उद्‌भव होता है ।

ऋषि-ऋण से अर्थ है—वेद-वेदाँग का अध्ययन और ब्रह्माण्ड के रहस्यों का उद्‌घाटन, प्रहलाद की भाँति सत्य मार्ग का अनुसरण एवं ध्रुव की भाँति शाश्वत दीप्ति को प्राप्ति ।

गांधी जी से किसी ने पूछा था—'आपके जीवन का लक्ष्य क्या है ?' गांधी जी ने उत्तर दिया—'भगवान की प्राप्ति'। प्रश्नकर्ता ने कहा—'तो फिर आप हिमालय की कन्दरा में जाकर क्यों नहीं तपस्या करते ?' गांधी जी ने कहा—'मेरा भगवान दरिद्रों की कुटिया में रहता है। मैं उसकी वहाँ खोज करता हूँ।'

महात्मा गांधी का विद्यार्थियों के नाम निम्न सन्देश आज भी सामयिक है।

"विद्यार्थी जगत को आज जो शिक्षा मिल रही है, वह भूखे-नंगे भारत के लिये बेहद मंहगी है। उसे बहुत ही थोड़े लोग प्राप्त करने की आशा रख सकते हैं। इसलिये उनसे यह आशा रखी जाती है कि राष्ट्र के लिये अपना जीवन तक न्योछावर करके अपने को उस शिक्षा के योग्य सिद्ध करें।"

विद्यार्थियों को समाज की रक्षा करने वाले सुधार-कार्यों में अगुआ बनाना चाहिये। वे राष्ट्र में जो कुछ अच्छा है, उसकी रक्षा करें और जो बेशुमार बुराइयाँ समाज में घुल गई हैं, उनसे निर्भयतापूर्वक समाज को मुक्त करें। सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों का अध्ययन और उनकी चर्चा वे कर सकते है और उन्हें करनी चाहिये, क्योंकि ये प्रश्न हमारी पीढ़ी के लिये उतने ही महत्व-पूर्ण हैं, जितना कि कोई बड़े से बड़ा राजनीतिक प्रश्न हो सकता है।

राष्ट्र-निर्माण के कार्यक्रम में राष्ट्र का कोई भी भाग अछूता नहीं रह सकता। विद्यार्थियों को देश के करोड़ों मूक लोगों पर असर डालना है तो उन्हें किसी प्रान्त, नगर, वर्ग या जाति की दृष्टि से नहीं, बल्कि एक महाद्वीप और करोड़ों की दृष्टि से विचार करना सीखना होगा। इन करोड़ों में अछूत, शराबी, गुण्डे और वेश्याएँ भी शामिल हैं, जिनके अस्तित्व के लिये हम सभी जिम्मेदार हैं।

इसी प्रसंग में विवेकानन्द ने दरिद्रनारायण की सेवा हेतु भारत के नवयुवकों का आह्वान किया था।

आइये ! हम दरिद्रनारायण के दर्शन करने हेतु अभावग्रस्त, सन्तप्त देशवासियों की झुग्गी-झोंपड़ियों में चलें तथा उनकी सेवा का व्रत लें।

पं० नाथूरामशंकर शर्मा

डा० भवानीलाल भारतीय
अध्यक्ष-दयानन्द अनु० पीठ, चण्डीगढ़

आर्यसमाज ने हिन्दी भाषा और साहित्य को जो इने-गिने रससिद्ध कवि प्रदान किये हैं उनमें ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली में समान रूप से उत्कृष्ट काव्य रचना करने वाले महाकवि नाथूरामशंकर शर्मा 'शंकर' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शंकर जी का जन्म चैत्र शुक्ला ५, संवत् १६१६ वि० के दिन हरदुआगंज (जिला अलीगढ़) में एक गौड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ। इनका नाम कृष्णचन्द्र था। परन्तु इनके जन्म से पूर्व इनके कई भाई-बहन मर चुके थे अतः अन्ध-परम्परानुसार माता-पिता ने इनकी नाक छिदवा कर "नथुआ" (नाथूरामशंकर) नाम प्रदान किया। बड़े होने पर इन्होंने "शंकर" उपनाम धारण किया और ये नाथूरामशंकर शर्मा 'शंकर' के नाम से विख्यात हुए। शंकर जी के पिता का नाम श्री रूपराम शर्मा तथा माता का नाम जीविनीदेवी था। पिता शाक्त मतानुयायी थे। डेढ़ वर्ष की अवस्था में ही माता दिवंगत हो गई, तो बालक का पालन पोषण उनकी नानी और बुआ ने किया।

प्रारम्भ में इनकी शिक्षा हिन्दी और उर्दू की हुई। बाद मे फारसी भी पढी। कविता करने का शौक इन्हें बाल्यकाल से ही था। ये इतिहास और भूगोल की बातें भी कविता में लिख कर याद करते थे। १३ वर्ष की आयु में ही इन्होंने काव्य-रचना आरम्भ कर दी। पहले उर्दू में लिखना आरम्भ किया, पुनः हिन्दी में लिखने लगे। अध्ययन समाप्ति के पश्चात् जीविका की खोज मे शंकर जी कानपुर पहुँचे। यहाँ नक्शानवीसी और पैमाइश का काम सीख कर नहर के दफ्तर में नौकर हो गये। धीरे-धीरे 'सब-ओवरसियर' के पद पर पहुँच गये। लगभग साढ़े सात वर्ष तक राजकीय सेवा करने के पश्चात् एक दिन स्वाभिमान का प्रश्न उपस्थित होने पर आपने सरकारी सेवा से त्यागपत्र दे दिया। पुनः अनूपशहर आ गये और आयुर्वेद का अध्ययन करने लगे। तत्पश्चात् अपने जन्मस्थान हरदुआगंज आ गये, और चिकित्साकार्य से जीविका-निर्वाह करने लगे। वैद्यक कार्य में आपको इतनी सफलता मिली कि लोग इन्हें "पीयूष पाणि" कहने लगे। अब चिकित्सा करना और कविता लिखना, शंकर जी के दो ही कार्य रह गये।

ऋषि दयानन्द के दर्शन करने का सौभाग्य शंकर जी को अपने ग्राम हरदुआगंज में ही प्राप्त हुआ था, परन्तु कानपुर में उन्होंने ऋषि के कई व्याख्यान भी सुने। अपने जीवन के दो सौभाग्यों का उल्लेख करते हुए वे प्रायः कहा करते थे कि उनके जीवन के दो ही प्रमुख पल हैं। एक तो ऋषि दयानन्द के दर्शन तथा उनके उपदेश-श्रवण का लाभ तथा द्वितीय कुछ तुकबन्दी कर लेना। ऋषि के व्याख्यानों का कवि पर इतना प्रभाव पड़ा कि वे अविलम्ब आर्यसमाज कानपुर के सभासद बन गये। यहाँ पर ही आपने सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान पं० देवदत्त शास्त्री से संस्कृत का अध्ययन किया। हिन्दी के प्रसिद्ध निबन्धकार, पत्रकार तथा भारतेन्दुकालीन लेखक पं० प्रतापनारायण मिश्र से आपकी प्रगाढ़ मैत्री कानपुर के निवासकाल में हुई। उनके पत्र 'ब्राह्मण' में प्रायः इनके लेख भी प्रकाशित होते थे। अपने सपय के सभी साहित्यकारों से उनका प्रगाढ़ मैत्री सम्बन्ध था। "सरस्वती" के सम्पादक आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी उनका बड़ा सम्मान करते तथा उनकी रचनाओं को आदरपूर्वक सरस्वती में प्रकाशित करते थे।

हिन्दीप्रेमी सुप्रसिद्ध अंग्रेजो विद्वान डा० जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने सरस्वती में प्रकाशित होने वाली खड़ी बोली की नीरस और शुष्क कविताओं को देखकर आचार्य द्विवेदी जी को लिखा—क्या खड़ी बोली में सरसता नही आ सकती ? खड़ी बोली के प्रबल समर्थक द्विवेदी जी को यह बात बहुत खटकी उन्होंने तुरन्त शंकर जी को पत्र लिखा और अनुरोध किया कि वे सरस्वती के लिये खड़ी बोली की कुछ खास रचनायें भेजकर उनकी लाज रक्खें। उस समय तक शंकर जी प्रायः ब्रज भाषा में लिखा करते थे। खड़ी बोली में उनकी बहुत कम रचनायें प्रकाशित हुई थीं। अब द्विवेदी जी के आग्रह को स्वीकार कर, महाकवि ने खड़ी बोली की कुछ महत्वपूर्ण कवितायें लिखकर सरस्वती में भेजीं। इन कविताओं में हमारा अधःपतन, सम्मुखोद्धार, बसन्तसेना, केरल की तारा, अविद्यानन्द का व्याख्यान, पंचपुकार आदि उल्लेखनीय थीं। इन कविताओं को पढ़कर खड़ी बोली कविता के लिये डा० ग्रियर्सन को अपनी सम्मति बदलनी पड़ी। अब उन्होंने द्विवेदी जी को लिखा— "ये शंकर जी कौन हैं ? इनकी कवितायें पढ़कर मैंने अपनो सम्मति बदल ली है, और अब मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि खड़ी बोली में भी सुन्दर और सरल कवितायें हो सकनी हैं।"

सरस्वती के अतिरिक्त फतहगढ़ से प्रकाशित होने वाले "कवि व चित्रकार" नामक लीथो में प्रकाशित होने वाले एक मासिक पत्र में भी उनकी रचनायें छपती थीं। प्रसिद्ध हिन्दीविज्ञ कलक्टर ग्राउस साहब के हेड क्लर्क

पं० कुन्दनलाल शर्मा इस पत्र के सम्पादक थे, और यह पत्र भी इन्हीं ग्राउस साहब की प्रेरणा तथा सहायता से प्रकाशित होता था ।

शंकर जी प्रवासभीरू थे। यद्यपि अनेक सत्ता सम्मेलनों तथा उत्सवों के निमन्त्रण उन्हें मिलते रहते थे, तथापि अपने ग्राम को छोड़ कर कहीं जाना उन्हें पसन्द नहीं था। कई नरेशों ने उन्हें बुलवाया, परन्तु वे नहीं गये । केवल एक बार छतरपुर (मध्य प्रदेश) नरेश श्री विश्वनाथसिंह तथा उनके तत्कालीन दीवान हिन्दी के ख्यातनामा साहित्यकार रावराजा पं० श्यामबिहारी मिश्र (मिश्र बन्धुओं में एक) का अनुरोध स्वीकार कर केवल ५ दिन के लिये छतरपुर गये। वहाँ के साहित्य-प्रेमी उनका सत्संग लाभ कर अत्यन्त प्रसन्न हुये। अमेठी के आर्य-राजा रणंजयसिंह जी तथा उनके भाई स्व०रणवीरसिंह जी के आग्रहवश वे दो दिन के लिये अमेठी भी गये थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापतित्व करने के लिये भी उनसे कई बार आग्रह किया गया, परन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। बहुत आग्रह करने पर सम्मेलन के दिल्ली अधिवेशन के अवसर पर आयोजित अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता उन्होंने अवश्य की।

इस समय के दिल्ली प्रवास की एक मनोरंजक घटना अविस्मरणीय है— शंकर की दृष्टि वृद्धावस्था के कारण निर्बल हो गई थी। दिल्ली प्रवास का लाभ उठा कर वे अपने नेत्रों की परीक्षा कराने सिविल अस्पताल के नेत्र विशेषज्ञ के पास गये। डाक्टर ने परीक्षा करने के उपरान्त बताया कि एक नेत्र तो ठीक हो सकता है किन्तु दूसरे की ठीक होने की आशा नहीं है। इस कथन पर आशु कवि शंकर जी के मुख से अनायास ही यह कविता निकल गई—

बूढ़े शंकर से कहती है
हाथ जोड़ कविता बाला।
होकर सूर भजो केशव को ।
ले कर में तुलसी की माला ।।

कहना नहीं होगा कि मुद्रा अलंकारयुक्त कविता की इन पंक्तियों को सुन कर नेत्र विशेषज्ञ डाक्टर भौचक्के से रह गये, तब उन्हें बताया गया कि उनके रोगी और कोई नहीं, हिन्दी के प्रख्यात कवि शंकर जी हैं जो दिल्ली में कवि सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिये आये हैं।

महाकवि का एक और मनोरंजक संस्मरण यहाँ लिखा जाता है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि गयाप्रसाद शुक्ल "सनेही" जी "त्रिशूल" नाम से भी कविताएँ लिखते थे, शंकर जी के ही शिष्य थे। एक बार ५१ रु० का पुरस्कार उक्त त्रिशूल कवि को मिला तो शंकर जी ने विनोदपूर्वक यह दोहा लिखा—

क्या शंकर कविता लिखे,
क्या पावे उपहार ।

इक्यावन तो ले गया,
शंकर का हथियार ।।

शंकर के आयुध त्रिशूल को ही जब पुरस्कार मिल गया तो स्वयं शंकर को पुरस्कार प्राप्ति की इच्छा क्यों होने लगी ?

१९२५ ई० में जब महर्षि दयानन्द का जन्म-शताब्दी-उत्सव मथुरा में मनाया गया तो उस समय आयोजित विराट कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता महाकवि शंकर ने ही की थी। कवि की निस्पृहता तथा निर्लोभ वृत्ति की अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। १९१३ में जब उनका काव्यसंग्रह 'अनुरागरत्न' छप रहा था, तो उनके समक्ष एक राजा का प्रस्ताव आया कि यदि वे उक्त काव्यग्रन्थ को राजा साहब को समर्पित कर दें तो ग्रन्थव्यय के अतिरिक्त पाँच हजार रुपया उन्हें भेंटस्वरूप दिया जायेगा । परन्तु शंकर जी ने इन काव्यों को अपने निकटतम सुहृद, हिन्दी के सुप्रसिद्ध समालोचक पं० पद्मसिंह शर्मा को समर्पित करने का निश्चय कर चुके थे । इष्ट मित्रों ने तथा स्वयं शर्मा जी ने श्री महाकवि पर जोर डाला कि वे राजा साहब के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लें, कुछ अर्थलाभ ही हो जायेगा। परन्तु अपनी आन के धनी कवि ने सजल नयन होकर कहा—"मैं तो अपनो किताब सम्पादक जी (पं० पद्मसिंह शर्मा) कूंई समर्पित करेंगो। जो काव्य के मर्मज्ञ हैं। धन पीछो भर्या,मो कूं दबाओं मत, बिचारों राजा कविता कूं का जाने" इतने बड़े अर्थप्रलोभन को लात मार कर शंकर जी ने 'अनुरागरत्न' का समर्पण काव्यमर्मज्ञ पं० पद्मसिंह शर्मा के प्रति ही किया ।

फरवरी १९२३ में काशीनिवासी देशभक्त बाबू शिवप्रसाद गुप्त जब विश्वभ्रमण को प्रस्थान करने लगे तो पं० पद्मसिंह शर्मा की प्रेरणा से उन्होंने शंकर जी के पुत्र पं० हरिशकर शर्मा को अपने निजी सचिव के रूप में २५०-३०० रु० मासिक वेतन देकर अपने साथ यात्रा पर ले जाने का प्रस्ताव रक्खा । हरिशंकर जी के लिये इस प्रस्ताव का बहुत बड़ा मूल्य था, क्योंकि मुफ्त में संसार-भ्रमण के साथ-साथ अच्छा वेतन मिलने की भी बात थी । परन्तु इस प्रस्ताव के साथ-साथ उत्तर प्रदेश आर्य-प्रतिनिधि सभा के मुखपत्र "आर्यमित्र" का सम्पादक-पद ग्रहण करने के लिये पं० घासीराम जी तथा श्री मदनमोहन सेठ ने हरिशंकर जी से अनुरोध किया । महाकवि से प्रार्थना की गई कि वे अपने सुयोग्य पुत्र को आर्यमित्र का सम्पादक पद स्वीकार करने का आदेश प्रदान करें। महाकवि ने अपने पुत्र को संसार भ्रमण का प्रलोभन छोड़कर आर्यमित्र का सम्पादन करते हुए आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द के ऋण से उऋण होने का आदेश दिया। शर्मा जी ने भी तत्काल स्वीकार किया और वह भी केवल ८० रु० मासिक लेकर ।

खेद है कि महाकवि शंकर के काव्य का उचित मूल्यांकन हिन्दी के पक्ष-पातग्रस्त समीक्षकों ने नहीं किया। उन्होंने शंकर की कविता को नीरस, शुष्क, सुधार-बहुला तथा आर्यसमाजी ढर्रे की कहकर उसकी अपेक्षा की। वस्तुतः उन समीक्षक नामधारी लोगों में शंकर की कविता को समझने या उसके महत्व का निर्धारण करने की क्षमता का नितान्त अभाव था, तभी तो इस महाकवि की सारस्वत-साधना का यथोचित मूल्यांकन अभी तक नहीं हो सका है। शंकर का समग्र काव्य विविध रसपूर्ण एक महासागर के तुल्य है। उनके तीन काव्यग्रन्थ 'अनुरागरत्न', "शंकर सरोज" तथा "गर्भरण्डा रहस्य" प्रकाशित हुये। सैकड़ों समस्यापूर्तियाँ तथा स्फुट-काव्यरचनायें भी मिलती हैं। "शंकर सर्वस्व" शीर्षक के अन्तर्गत उनके काव्य का महत्वपूर्ण भाग २००८ वि० में पं० हरिशंकर शर्मा द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था।

समालोचक वर्ग ने चाहे कवि के प्रति उपेक्षा दिखाई हो, परन्तु उसकी कविता के यथार्थ गुणों के पारखी भी कम नहीं थे। राजा लक्ष्मणसिंह जैसे भारतेन्दुकालीन वयोवृद्ध साहित्यकार ने उन्हें "भारतप्रज्ञेन्दु" की उपाधि दी तो जगद्गुरु शंकराचार्य भारती कृष्णतीर्थ जी ने उन्हें "कविशिरोमणि" की उपाधि से अलंकृत किया। ज्वालापुरस्थित गुरुकुल महाविद्यालय की आर्य विद्वत्सभा ने उन्हें "कविता कामिनी कान्त" की उपाधि प्रदान करते हुए एक स्वर्ण पदक प्रदान किया जिस पर निम्न श्लोक अंकित था—

कविता कामिनी कान्तः,
श्री नाथूराम शंकरः।
ज्वालापुरार्य विदूषां:
सभया मान्यतेतराम्॥

महाविद्यालय के ही गुरुवर पं० काशीनाथ जी शास्त्री ने शंकर को सरस्वती का अवतार बताते हुए निम्न श्लोक कहे—

शंकरं प्रणमन् काशी-
नाथोऽहं द्विजसत्तमः।
काव्य दर्शन संजात
चमत्कारो निवेदये॥
नूनं "सरस्वती" नाथूराम
शंकर पण्डितः।
अन्यथे दृश पद्यानि को
निर्मिमीत मानवाः॥

१२६वीं जन्म-तिथि पर महाकवि को हमारी विनम्र श्रद्धाँजलि।

प्राचीन भारत में मंत्री-परिषद

डा० विनोदचन्द्र सिन्हा
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग

प्राचीन भारत में जिस प्रकार सभा और समिति की सत्ता थी वैसे ही मन्त्री परिषद भी शासन में महत्वपूर्ण स्थान रखती थी। वैदिक युग में 'राजकृत: राजान:' और उत्तर-वैदिक युग में रत्निन् की सहायता से राजा शासन कार्य का सम्पादन करता था। कालान्तर में जब राज्य और भी सुव्यवस्थित दशा में आ गये तो मन्त्री-परिषद का निर्माण हुआ। कौटलीय अर्थशास्त्र, नीति ग्रन्थों और स्मृति ग्रन्थों आदि से मन्त्री-परिषद के विषय में पर्याप्त जानकारी मिलती है।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने मन्त्री-मण्डल को राज्य व्यवस्था का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण अंग स्वीकार किया है। महाभारत[1] में उल्लेख है कि राजा अपने मन्त्रियों पर उतना ही निर्भर है जितना कि प्राणिमात्र पर्जन्य पर, ब्राह्मण वेदों पर और स्त्रियाँ अपने पतियों पर। अर्थशास्त्र[2] का कथन है कि जिस प्रकार एक पहिये से रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार बिना मन्त्रियों की सहायता, अकेले राजा से राज्य नहीं चल सकता। आचार्य शुक्र[3] का मत है कि योग्य राजा भी सब बातें नहीं समझ सकता, अत: राज्य की अभिवृद्धि चाहने वाला राजा योग्य मन्त्रियों को नहीं चुने तो राज्य का पतन निश्चित है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीनकाल के हिन्दु विधिवेत्ता मन्त्री-मण्डल को राज्य का अभिन्न अंग मानते थे।

कौटलीय अर्थशास्त्र[4] में लिखा है—कार्य प्रारम्भ करने के उपाय, मनुष्यों और धन का कार्यों के लिये विनियोग, कार्यों को करने के लिये कौन-सा प्रदेश व कौन-सा समय प्रयुक्त किया जाये, कार्यसिद्धि के मार्ग में आने वाली विपत्तियों का निवारण और कार्य की सिद्धि—मन्त्र (राजकीय परामर्श) के ये पाँच अंग होते हैं। इन्हीं के लिये मन्त्रियों और मन्त्री परिषद की आवश्यकता होती है।

मन्त्री-मण्डल के सदस्यों के सम्बन्ध में मनु का मत है कि मन्त्रियों की

संख्या ७ या ८ होनी चाहिये। महाभारत ८ के पक्ष में है। अर्थशास्त्र इस सम्बन्ध में विभिन्न मतों का उल्लेख करता है। जिससे विदित होता है कि मानव-सम्प्रदाय वाले १२, बहिस्पत्य सम्प्रदाय वाले १६ और औरानस सम्प्रदाय वाले २० मन्त्रियों के पक्ष में थे। पर आचार्य कौटिल्य के मत में जितनी आवश्यकता समझी जाये उतने ही मन्त्री नियत किये जाने चाहिये। इन्द्र की मन्त्री-परिषद में एक हजार ऋषि थे। इसी कारण यद्यपि उनको अपनी दो ही आँखें थीं, पर उसे 'सहस्राक्ष' कहा जाता था।[5]

राज्य के विविध पदाधिकारियों के लिये अमात्य शब्द प्रयुक्त होता था। देश, काल और धर्म को दृष्टि में रखकर राज्य के विविध अमात्यों की नियुक्ति की जाती थी। पर ये सब अमात्य मन्त्री नहीं होते थे।[6] जो अमात्य 'सर्वोपधाशुद्ध' हों उन्हें ही मन्त्री पद पर नियुक्त किया जाता था[7]। जो अमात्य पूर्णतया धार्मिक हों, काम, क्रोध, लोभ, मोह से रहित हों उन्हें ही मन्त्री पद पर नियुक्त किया जाना चाहिये। ऐसे मन्त्रियों से परामर्श करके ही राजा किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचता था। परन्तु राजकीय परामर्श को गुप्त रखना भी बहुत आवश्यक था। इसी कारण कौटिल्य ने भारद्वाज का यह मत उद्धृत किया है कि "गुप्त विषयों पर अकेला स्वयं विचार करे।" यदि मन्त्रियों से परामर्श किया जायेगा तो परामर्श गुप्त नहीं रह सकता क्योंकि मन्त्रियों के भी मन्त्री होते हैं और उनके भी अन्य सलाहकार। विशालाक्ष[8] इस मत से असहमत होकर अपना मत इस प्रकार रखते हैं कि अकेले कभी मन्त्र की सिद्धि नहीं हो सकती। राजवृत्ति तीन प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय। यह मन्त्रियों का ही कार्य है कि जो ज्ञात नहीं है उसका पता लगायें, जो ज्ञात है उसके सम्बन्ध में निश्चय करें। जहाँ संदेह हो, उसका निवारण करें। अतः राजा को चाहिये कि बुद्धिमान लोगों से परामर्श करे।

आचार्य पाराशर[9] का कहना है कि इस ढंग से मन्त्र का ज्ञान तो हो सकता है पर उसकी रक्षा संभव नहीं है। अतः राजा को चाहिये कि उसे जो कार्य अभिप्रेत हो उससे उल्टी बात मन्त्रियों से पूछे। इससे मन्त्र का भी ज्ञान होगा और रक्षा भी। पिशुन इससे सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि जिन कार्यों से मन्त्रियों का सम्बन्ध हो उनसे उनके विषय में ही परामर्श करना चाहिये। ऐसा करने से उचित परामर्श भी मिलता है और मन्त्र भी गुप्त रहता है। कौटिल्य इस विचार से भी सहमत नहीं थे। उनके मतानुसार राजा तीन या चार मन्त्रियों के साथ परामर्श करे। एक ही मन्त्री से परामर्श करने पर वह बेलगाम होगा, यथेष्ट आचरण करने लगेगा। दो मन्त्री होने पर दोनों के आपस में मिल जाने से राजा स्वयं को असहाय महसूस करेगा। तीन या चार

मन्त्रियों से परामर्श करने पर ये दोष उत्पन्न नहीं होंगे। कौटिल्य अर्थशास्त्र से यह भी विदित होता है कि मन्त्री-परिषद किसी संसद के प्रति उत्तरदायी नहीं थी।

जातक ग्रन्थों और अशोक के शिलालेखों में भी मन्त्रियों की सभा के लिये परिषद शब्द का उल्लेख किया गया है। अशोक के लेखों से सूचित होता है कि परिषद का कार्य केवल राजा को परामर्श देना ही नहीं था अपितु राजकीय नीति को क्रियान्वन करने के सम्बन्ध में आदेश देना भी था।

मन्त्री-परिषद राजा के कार्यों पर नियन्त्रण करने का भी अधिकार रखती थी। यह दिव्यावदान की उस कथा से सूचित होता है जिसके अनुसार अमात्य राधागुप्त ने युवराज सम्पदि की सहायता से अशोक को इस बात से रोक दिया था कि वह राजकोष से बौद्ध विहार के लिये दान दे सके।

मनुस्मृति[10] में लिखा है यदि राजा कोई कार्य सहायकों के बिना करेगा, तो वह मूर्ख ही होगा। क्योंकि ऐसा राजा कदापि न्यायपूर्वक अपना कार्य नहीं कर सकता। जो कार्य सुकर होते हैं, वे भी एक व्यक्ति के लिये दुष्कर होते हैं, जब तक की उसके सहायक न हों। तो फिर राज्य की तो बात ही क्या ? शुक्र-नीति-सार के अनुशीलन से मन्त्री-परिषद को स्थिति पर बहुत उत्तम प्रकाश पड़ता है। शुक्र के अनुसार राजा कभी अपने मत के अनुसार कार्य न करे अपितु कुछ व्यक्तियों के मत में स्थित होकर रहे। शुक्र एकमात्र ऐसे विचारदर्शक हुए हैं जिन्होंने उपाधियाँ भी बतलाई हैं। उनके अनुसार मन्त्री-परिषद में १० मन्त्री होने चाहिये। १-पुरोहित, २-प्रतिनिधि, ३-प्रधान, ४-सचिव, ५-मन्त्री, ६-प्राड़विवाक, ७-पंडित, ८-सुमन्त्र, ९-अमात्य, १०-दूत, । डा० अल्तेकर[12] के अनुसार—"यद्यपि पूर्व आचार्यों ने विभागों का वर्णन नही किया है फिर भी हम मान सकते हैं कि विभागों का विभाजन शुक्राचार्य द्वारा वर्णित ढंग पर हा होता था, क्योंकि उत्कीर्ण लेखों में इन मन्त्रियों के उल्लेख इसी या इसके पर्यायवाची नामों में मिलते हैं।

नीति-शास्त्र विषयक अन्य भारतीय ग्रन्थों में भी मन्त्रियों और मन्त्री-परिषद के महत्व के सम्बन्ध में अनेक बातें पायी जाती हैं। नीति वाक्यामृतम्[13] में लिखा है—उसे राजा नहीं कह सकते, जो मन्त्रियों का अतिक्रमण करके रहे। वस्तुतः प्राचीन समय में भारत के राजा मन्त्रियों के अधीन होकर ही काय करते थे। इसीलिये महाभारत के शान्ति पर्व[14] में लिखा है– राजा तो सदा ही परतन्त्र है। सन्धि और विग्रह के कार्य में राजा कहाँ स्वतन्त्र है ? वह तो स्त्रियों और क्रीड़ाविहार तक में स्वतन्त्र नहीं होता। वह तो सब मन्त्र अमात्यों

के साथ ही करता है । राजा को स्वतन्त्रता कहाँ है ?

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में मन्त्री-परिषद का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण था और राजा की स्वेच्छाचारिता पर नियन्त्रण रखने का कार्य मन्त्रियों के ही हाथों में था ।

सन्दर्भ :

१- महाभारत : ५.३७.३८
२- अर्थशास्त्र : १.३.१
३- शुक्र : २.८१
४- कौटलीय अर्थशास्त्र १/१५
५- कौटलीय अर्थशास्त्र १/१५
६- ,, ,, १/८
७- ,, ,, १/१०
८- ,, ,, १/१५
९- ,, ,, १/१५
१०- मनुस्मृति, अध्याय ७
११- शुक्रनीति सार ३२/२
१२- डा० अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति ।
१३- नीति वाक्यामृत अ ॥ १०
१४- महा० शान्तिपर्व, ३२५/१३९-१४०

—०—

भारतीय गणित का सर्वेक्षण

वीरेन्द्र अरोड़ा
कुलसचिव, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

सामान्य रूप से गणित की तीन धाराएं—अंकगणित, बीजगणित तथा ज्यामिति अधिक प्रसिद्ध हैं। अधिकांश लोगों की यह धारणा होगी कि अन्य आधुनिक विद्याओं की तरह यह शास्त्र भी भारत में बाहर से आया होगा। पर यदि गम्भीरता से विचार किया जाये और भारतीय विद्वानों के द्वारा किये गये शोधकार्य का अवलोकन किया जाये तो ज्ञात होगा कि गणित का इतिहास भारतीय विद्याओं में प्राचीनतम है। वैदिक युग से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के भारतीय विद्वानों ने बार-बार यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि गणित का उद्भव और विकास भारत में हुआ। यह ठीक है कि छः वेदाँगों में गणित ज्योतिष का ही अंग होकर विवेचित हुआ, उसे स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित होने का कोई परम्परागत आधार नहीं मिला। आइजक राड़ हन्टर, जार्ज जन्सटन, आलविन, हरमान हेन्कल जैसे लन्दन और जर्मन के विद्वानों ने गणित के इतिहास की अनेक पुस्तकें लिखीं हैं, किन्तु उनमें भारतीय योगदान की चर्चा नहीं के बराबर हुई है। भारत के आधुनिक विद्वान् शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने सर्वप्रथम भारतीय गणित पर भारतीय ज्योतिष नामक ग्रन्थ में साधिकार चर्चा की और १८९१ में यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। गायकवाड़ सरकार ने उन्हें १८९६ में १०००/-के पारितोषिक से पुरस्कृत किया था। हिन्दी समिति ग्रन्थ-माला, लखनऊ से यह पुस्तक हिन्दी में अनुदित होकर प्रकाशित हो गई है। इसके बाद १९१०में पंडित सुधाकर द्विवेदी ने बनारस से गणित का इतिहास प्रकाशित कराया। इसमें भास्कर जैसे विद्वानों के अंकगणितीय और बीजगणितीय कार्य का दिग्दर्शन कराते हुए ज्यामिति पर विशेष विचार किया गया था। वराहमिहिर के सूर्य सिद्धान्त, सूर्य सिद्धान्त का स्पष्टाधिकार, ज्यातारिणी और आजकल की रीति से ज्या के मान की तुलना करते हुए भारतीय इतिहासकारों की विशेषता बताई गई थी। आर्यभट्ट ने"ज्या"सारिणी बनाने के प्राचीन नियमों के अतिरिक्त एक नया नियम भी दिया था। जैसे "पहली ज्या से उसको उसी से भाग देकर घटा दो इस प्रकार सारिणी ज्याओं का दूसरा अन्तर प्राप्त होगा। कोई-सा भी अन्तर निकालने के लिये उससे पिछले समस्त अन्तरों के जोड़ को

पहलो ज्या से भाग देकर उससे पिछले अन्तर में से घटा दो, इस प्रकार मारे अन्तर प्राप्त हो जायेंगे। यदि आर्यभट्ट की ज्या सारिणी के साथ ज्याओं के आधुनिक मान दिये जायें, तो कोई विशेष अन्तर नहीं आता है । प्रोफेमर ए० एन० सिह की पुस्तक "हिन्दु ट्रिगनोमैटरी" से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है । आर्यभट्ट नवीं शताब्दी के गणितज्ञ हैं, अलब्यूरीनी ने भ्रम से दो आर्यभट्टों का उल्लेख किया है, पर भारतीग विद्वान एक ही आर्यभट्ट का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इनके आर्य सिद्धान्त ग्रन्थ में अंकगणित, बीजगणित, ज्यामिति और गोला सभी विषयों का समावेश है। जिस लीलावती की चर्चा आधुनिक विद्वान करते हैं, वह भास्कराचार्य की ज्योतिष सम्बन्धी सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ का ही एक खण्ड है। आर्यभट्ट को समझना कठिन हो गया होता यदि उसके टोकाकार परमादीश्वर ने सिद्धान्त दीपिका न लिखी होती । काशी के ही बाबूदेव शास्त्री ने १८६१ में इसका एक खण्ड छपवाया था। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि सारिणी बनाने की भास्कराचार्य ने जो सात विधियाँ दा हैं, उनमें से एक आलेख प्रधान या ग्रेफिकल भी है। Calculation के लिये भारत में कलन शब्द का प्रचलन रहा है। पंडित सुधाकर द्विवेदी ने सर्वप्रथम Calculus के लिये कलन शब्द का प्रचलन किया। वह राजकीय संस्कृत कालेज में पुस्तकालाध्यक्ष थे। अंग्रेज सरकार ने इनके गणित सम्बन्धी कार्य को देखकर महामहोपाध्याय की उपाधि दी थी। इन्होंने Spherical Geometry (गोलीय रेखागणित)नाम से ग्रन्थ की रचना की थी। आज भी Integration के लिये समाकलन, Bounded के लिये परिमित फलन तथा Fundamental theorem of Integral Calculus के लिये चलराशि कलन का मूलभूत प्रमेय तथा Inverse Differention के लिये उत्क्रम अवकलन जैसे शब्दों का प्रयोग भारतीय गणित के इतिहास में ५० वर्ष पहले जो पंडित सुधाकर द्विवेदी ने चलाया, वही आज भी चल रहा है। अंग्रेजी में दो खण्डों में D. E. Smith ने Histroy of Mathematics लिखकर संख्या, प्राकृतिक संख्याओं का गणित, परिकलन यन्त्र, कृत्रिम संख्याएँ, ज्यामिति, बीजगणित, त्रिकोणमिति, नाप-तोल तथा कलन पर जो कुछ लिखा है, वह गणित के पाठक के लिये मार्गदर्शन का काम करते हैं, किन्तु इसमें भारतीय विचारकों पर विचार नहीं किया गया है। १६३२ में B. B. Dutt ने कलकत्ता से Science of Sulba (शुल्ब सूत्र) तथा गणेशप्रसाद ने १६३३ में बनारस से Some Great Mathematicians of the 19th Century लिखकर भारत में गणितीय गवेषणा को परम्परा को स्थापित किया। १६३३ में ही B. B. Dutt और A. N. Singh ने संयुक्त रूप से History of Hindu Mathematics दो खण्डों में लिखकर लाहौर से प्रकाशित कराया। फिर तो भारतोय गणित पर कई विद्वानों ने अलग-अलग पुस्तकें प्रकाशित कराईं, जिनमें डा० बृजमोहन,

डा० कृपाशंकर शुक्ल तथा डा० गोरखप्रसाद के नाम उल्लेखनीय हैं।

ज्यामिति और बीजगणित पर विचार शुल्ब सूत्रों में यज्ञ वेदी के निर्माण के प्रसंग में हुआ है। किन्तु अंक सिद्धान्त तथा गणना परम्परा भारत में प्राचीन मिलती है। सिकन्दर के आक्रमण के समय तक लोगों का कहना है कि भारत में अंकगणित का विकास नहीं हुआ था। किन्तु हिन्दू संख्या पद्धति ५००० और १००० ई० के बीच की उपज है जिसमें आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त तथा महावीर ने क्रपशः आर्य सिद्धान्त, ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त, तथा गणित सार संग्रह लिखकर भारतीय अंकगणित को व्यवस्थित किया। आर्यभट्ट ने वर्गमूल निकालने के रोचक सूत्र दिये हैं, इनके द्वारा दी गई वर्गमूल क्रिया ठीक वैसी हो है, जैसे आधुनिक गणित में। इसमें कई बार जाँच भजनफल लेने की भी व्यवस्था है, यह सूत्र श्लोकों में जैसेः—

"भागं हरेद्वर्गान्नित्यं द्विगुणेन वर्गमूलेन।
वर्गाद्वर्गे शुद्धे लब्धं स्थानान्तरे मूलम्॥

अर्थात्—ईकाई के स्थान से आरम्भ करके प्रत्येक दूसरे अंक के ऊपर एक बिन्दु रखो जितनी बिन्दियाँ लगेंगी उतने ही अंक वर्गमूल में होंगे। इसी प्रकार घनमूल निकालने की विधि इस प्रकार दी गई है :—

"अघनाद् भजेद् द्वितीयात् त्रिगुणेन घनस्य मूलवर्गेण।
वर्गस्त्रिपूर्व गुणितः शोध्यः प्रथमाद् धनश्च धनाद्॥"

अर्थात्—पहले दी गई संख्या पर दाहिने से आरम्भ करके और दो-दो अंक छोड़कर बिन्दियाँ लगा दी जायें, सबसे बायीं ओर जो संख्या बचे, उसे बड़ी से बड़ी संख्या जिसका घन उसमें से घट सकता हो निश्चित कर ली जाये। उसे भजनफल में रख लिया जाये और उसके घन को बांयी वाली संख्या से घटा लिया जाये। महावीर ने तो बड़े रोचक प्रश्न बनाये हैं, भिन्नों पर बड़ी रोचक दृष्टि से विचार भी किया है।

एक उदाहरण देखिये—

"फलभार नम्र कम्रे शालिक्षेत्रे शुका स्समुपाविष्टाः।
सहसोत्थिता मनुष्यैः सर्वे सन्त्रासितास्सन्तः॥
तेषामर्धं प्राचीमाग्नेयीं प्रतिजगाम् षड्भागः।
पूर्वाग्नेयीशेषः स्वदलोनः स्वार्धवर्जितो याम्रीम्॥
याम्याग्नेयी शेषः स नैऋत्ये त्रि स्वद्विपन्चभागोन।

यामोनैर्ऋत्यं शक परिशेषो वारुणीमाशाम् ।।
नैर्ऋत्यपर विशेषो वायव्यां सस्वकत्रि सप्तांहृशः ।
वायव्यपर विशेषो युतस्व सप्ताष्टमः सौमीम् ।।
वायव्युत्त योर्युतिरैशानीं स्वत्रियागयुग हीनाः ।
दशगुणिताष्टाविंशतिरवशिष्टा व्योम्निकति कीराः ।।

अर्थात्—एक धान के खेत में, जिसका दाना पक चुका था और बालें बोझ से झुकी जा रहीं थीं, तोतों का एक झुण्ड उतरा । रखवालों ने उन्हें डराकर उड़ा दिया। उनमें से आधे पूर्व दिशा को चले गये और १/७ दक्षिण पूर्व की ओर। इन दोनों के अन्तर में से अपना आधा घटा कर जो बच रहे उसमें से फिर उसी का आधा घटाने पर जितने बचे रहे, वे दक्षिण दिशा में गये । जो दक्षिण गये और जो दक्षिण-पूर्व गये उनके अन्तर में से उसी का २/५ घटाने से जितने बच रहे, वे दक्षिण-पश्चिम गये। जितने दक्षिण गये और जितने दक्षिण-पश्चिम गये जितना इन दोनों का अन्तर हो, उतने पश्चिम गये। जितने दक्षिण-पश्चिम गये और जितने पश्चिम गये उनके अन्तर में उसी का ३/७ जोड़ने से जो आये उतने उत्तर-पश्चिम गये । जितने उत्तर पश्चिम गये और जितने पश्चिम गये उनके अन्तर में उसी का ७/८ मिलाने से जो फल आये उतने उत्तर गये। जो उत्तर-पश्चिम गये और जो उत्तर गये, उनके जोड़ में से उसी का २/३ घटाने से जो प्राप्त हो उतने ही उत्तर पूर्व गये । और २८० तोते आकाश में विचरते रह गये। तो कुल मिलाकर झुण्ड में कितने तोते थे ?

प्रोफेसर ए० के० वेग ने Mathematics in Ancient and Medieval India पुस्तक में संख्याओं को और संख्याओं के वर्गीकरण को वैदिक सिद्ध किया है। एक द्वि, त्रि, चतुर्थ, पंच, षट्, सप्त, अष्ट, नव, दश तथा विंशति और शत जैसे संख्याओं का वैदिक साहित्य में उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद संहिता के १७ वें अध्याय में तैत्तरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता तथा काठक संहिता में संख्याओं और उनके गुणन का उल्लेख किया गया है । अतः यह कहना कि संख्याओं की गणना भारतीय नहीं है, अनुचित प्रतीत होता है। प्रोफेसर वेग, Indian National Science Academy में कार्यरत हैं, जिन्हें अधिक रुचि हो वो उनका ग्रन्थ देख सकते हैं। इधर पुरी के जगत्गुरु स्वामी भारतीकृष्ण तीर्थ जी ने "वैदिक मैथमैटिक्स" पुस्तक में १६ सूत्र देकर समस्त गणित की प्रक्रियाओं को भारतीय दृष्टि से समझाने का प्रयत्न किया है। मैथमैटिक्स की आधुनिक और महत्वपूर्ण शाखा Analysical Conics को भी उन्होंने भारतीय दृष्टि से ही विवेचित किया है। और इसके लिये भी वैदिक प्रक्रिया बतायी है । "उर्ध्वतिर्यग्भ्याम्" "लोपम्स्थापनाभ्याम्" तथा

"आद्ययआद्येन" सूत्रों से उन्होंने Analystical Conics की समस्याओं का समाधान किया है। Simultaneous Simple Equations के लिये परावर्त्य सूत्र तथा शून्यमन्यत देकर तथा Miscellaneous Simple Equatiaons की पाँच प्रक्रिया अलग-अलग देकर उन्होंने भारतीय प्रक्रिया की पूर्ण वैज्ञानिकता प्रतिपादित की है।

"अन्त्ययोरेव" सूत्र से आधुनिक Summation of Series को सम्बन्द्ध करते हुए उन्होंने जो प्रक्रिया दी उससे निश्चित होता है कि वैदिक गणित आधुनिक गणित शास्त्रीय प्रक्रिया के बहुत निकट है। अन्त में कहा जा सकता है कि परम्परा से अंकगणित, बीजगणित और ज्यामिति के जो सूत्र और विचार-प्रक्रिया चली आ रही थी, वह रोम, अरब, मिस्र और योरोप के गणित शास्त्रीय विद्वानों से पूर्ववर्ती थी, तथा उसकी वैज्ञानिकता आज भी आधुनिक पद्धति पर खरी उतरती है। यह ठीक है कि योरोप में मध्यकाल में गणित का अधिक विकास हुआ, तथा १९वीं तथा २०वीं शताब्दियों में बहुत महत्वपूर्ण शोधकार्य भी हुआ। किन्तु पराधीन भारत में सुधाकर द्विवेदी और बालकृष्ण दीक्षित जैसे विद्वानों ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट कर भारतीय विद्वानों की प्रतिभा को पहचानने को प्रेरणा दी। भारतीय गणित का इतिहास सबसे अधिक प्राचीन और गौरवशाली है।

-o—

मथुरा कला में 'केतु'

कृष्णकुमार
रजिस्ट्रीकरण अधिकारी
पुरावशेष एवं बहुमूल्य कलाकृति, गोरखपुर मण्डल, गोरखपुर ।

भारतीय शिल्प के इतिहास में मथुरा कला का एक विशिष्ट स्थान है। यद्यपि मथुरा कला का आविर्भाव बौद्ध प्रतिमाओं से हुआ, किन्तु शीघ्र ही उसमें जैन एवं ब्राह्मणधर्मी मूर्तियों का भी निर्माण होने लगा । सम्प्रदायगत देव विग्रहों के साथ ही मथुरा में कुछ ऐसे भी देवी-देवताओं का अंकन हुआ, जिनकी उपासना किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय–विशेष तक सीमित न थी, जैसे अष्ट दिक्पाल "नवग्रह" आदि। मथुरा एवं उसके समीवपर्ती क्षेत्र से अनेक नवग्रह मूर्तियाँ प्रकाश में आई हैं, जो प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन मूर्तियों के अध्ययन से केतु के विकासशील स्वरूप पर विशेष प्रकाश पड़ता है। जहाँ तक मुझे विदित है अभी तक इन मूर्तियों का स्वतन्त्र रूप से मूल्याँकन नहीं हुआ है । प्रस्तुत निबन्ध मथुरा की नवग्रह मूर्तियों के सन्दर्भ मे केतु के क्रमिक विकास के निरूपण का एक लघु प्रयास है।

यह सर्वविदित है कि भारत में देवी प्रकोप से सुरक्षा हेतु ग्रहों की पूजा का प्रचलन अत्यन्त प्राचीन है। प्रारम्भ में अर्चना हेतु ग्रहों का रेखाँकन विभिन्न रगों, अन्नपूण अथवा सुगन्धित लेपों द्वारा किया जाता था, किन्तु बाद में उनकी मूर्तियों का निर्माण अलग-अलग अथवा समूह में काष्ठ, अर्धमूल्यवान पत्थरों, धातु आदि से होने लगा । सामूहिक रूप से ग्रहों का अंकन शेषशायी विष्णु प्रतिमाओं के अतिरिक्त मध्यकालोन देव-मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों पर भी प्राय. मिलता है। दक्षिण भारत में नवग्रह मूर्तियों का निर्माण न केवल अलग-अलग होता था, दरन् उन्हें भिन्न-भिन्न मण्डपों में स्थापित भी किया जाता था। यद्यपि सूर्य के मानुषो स्वरूप का अंकन शुंग काल में होने लगा था, किन्तु चन्द्र के साथ उसकी युगल प्रतिमा का निर्माण कुषाण काल तक हुआ। अष्ट ग्रहों का सामूहिक रूप से अंकन सर्वप्रथम गुप्तकाल में हुआ । सारनाथ से प्राप्त एक उत्तरगुप्तकालीन खण्डित शिलापट्ट पर अन्तिम चार अष्ट ग्रहों–गुरु, शुक्र, शनि एवं राहु का अंकन है[1]। इससे स्पष्ट है कि लगभग छठी शताब्दी ई० तक केवल

अष्टग्रहों की पूजा का विधान था। सम्भवतः अशुभमूचक होने के कारण केतु की पूजा वर्जित थी।

प्रथम चरण (केतु का स्त्री स्वरूप)—

नवग्रह मूर्तियों का निर्माण सर्वप्रथम गुप्तोत्तर काल में हुआ। इसका प्राचीनतम उदाहरण मथुरा से प्राप्त है, जो सम्प्रति राज्य संग्रहालय, लखनऊ में सुरक्षित है[2]। इस खण्डित शिलापट्ट पर केवल अन्तिम चार नवग्रहों–शुक्र, शनि, राहु एवं केतु का अंकन है। मूर्ति विज्ञान की दृष्टि से इस शिलापट्ट का विशेष महत्व इसलिये है क्योंकि इसमें सर्वप्रथम केतु के दर्शन होते हैं। यहाँ राहु को तर्पण मुद्रा में तथा उसके बाम भाग में केतु को एक गर्भवती स्त्री के रूप में स्थानक मुद्रा में दर्शाया गया है। यद्यपि प्रतिमा क्षतिग्रस्त होने के कारण केतु के आयुध दृष्टिगोचर नहीं हैं, किन्तु शुक्र एवं शनि की भाँति सम्भवतः उसका दाहिना हाथ अभय मुद्रा में तथा बायें हाथ में कमण्डलु रहा होगा। इस मूर्ति की तिथि लगभग आठवीं शताब्दी ई० है। केतु का स्त्री स्वरूप खजुराहों[3] एवं एटा जनपद के रिजोर नामक ग्राम में भी उपलब्ध है। खजुराहों एवं रिजोर स्थित प्रतिमाओं में केतु को स्त्री रूप में क्रमशः राहु के बाम एवं अधोभाग में दर्शाया गया है। उक्त प्रतिमायें लगभग दसवीं शताब्दी ई० की हैं। उपलब्ध पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि नवग्रह प्रतिमा अथवा केतु का अंकन सर्वप्रथम मथुरा में हुआ।

द्वितीय चरण (केतु का पुरुष स्वरूप)—

विकास क्रम के द्वितीय चरण में केतु का अंकन पुरुष रूप में हुआ। इस प्रकार के दो उदाहरण राजकीय संग्रहालय, मथुरा में हैं। इनमें प्राचीनतम प्रतिमा लगभग दसवीं शती ई० के प्रारम्भ को है। इस खण्डित शिलापट्ट पर केवल अन्तिम तीन ग्रह–शनि, राहु एव केतु शेष हैं[4]। यद्यपि शनि एवं केतु के मस्तक एवं आयुध नष्ट हो चुके है, सम्भवतः उनके दाहिने हाथ अभय मुद्रा में तथा बायें हाथ में कमण्डलु थे। दूसरी प्रतिमा जो परिरक्षित दशा में है, दसवीं शती ई० के अन्त की है। इसमें राहु के नीचे प्रथम बार कुण्ड भी दर्शाया गया है। सर्प फण से युक्त केतु स्थानक मुद्रा में है[5]। उसका दाहिना हाथ अभय मुद्रा में तथा बायें हाथ में कमण्डलु है। केतु का अंकन अपराजितपृच्छा एवं रूप-मण्डन पर आधारित है। सम्भवतः इस प्रकार की मूर्तियाँ अन्य स्थानों में भी हों, किन्तु अभी तक वे प्रकाश में नहीं आई हैं।

तृतीय चरण (केतु का नागी स्वरूप)—

विकास के तृतीय चरण में केतु का अंकन नागी (आवक्ष भाग स्त्री तथा

अधो भाग सर्प) के रूप में हुआ। इस प्रकार की एक नवग्रह प्रतिमा मथुरा जनपद में असाबली नामक स्थान से प्राप्त हुई है, जो राजकीय संग्रहालय, मथुरा में सुरक्षित है[6]। इसमें समस्त ग्रह आसन मुद्रा में प्रदर्शित हैं। सूर्य के अतिरिक्त प्रथम सात ग्रहों के दाहिने हाथ अभय मुद्रा में पद्म धारण किये हैं तथा बायें हाथों में कमण्डलु हैं। राहु के बाम भाग में केतु अर्ध स्त्री एवं अर्ध सर्प के रूप में अंजलि मुद्रा में प्रदर्शित है। राहु एवं केतु का अंकन आँशिक रूप में रूपमण्डल तथा अपराजितपृच्छा से प्रभावित है। शैली की दृष्टि से यह प्रतिमा लगभग नवीं शती के प्रारम्भ की प्रतीत होती है। इस प्रकार की प्रतिमायें अलीगढ़, बटेश्वर, खजुराहो[7], रेह, कड़ा[8], भोटा[9] आदि स्थानों से भी प्रकाश में आई हैं। ऐसा एक उदाहरण राज्य संग्रहालय, लखनऊ में भी है[10]। उक्त सभी प्रतिमायें लगभग नवीं एवं बारहवीं शती ई० के मध्य की हैं। किन्तु रेह (फतेहपुर जनपद) स्थित नवग्रह प्रतिमा (जो लगभग नवीं शती को है) के अतिरिक्त अन्य सभी मूर्तियाँ मथुरा की तुलना में बाद की हैं।

चतुर्थ चरण (केतु का नाग स्वरूप)—

चतुर्थ चरण में केतु का अंकन नाग (आवक्ष भाग पुरुष एवं अधोभाग सर्प) के रूप में हुआ है। ऐसी एक नवग्रह प्रतिमा मथुरा के निकट परखम से प्राप्त हुई है, जो राजकीय संग्रहालय, मथुरा में है[11]। इसमें समस्त ग्रह आसन मुद्रा में अंकित हैं। सूर्य के अतिरिक्त प्रथम सात ग्रहों के दाहिने हाथों में कमल व बायें हाथ में कमण्डलु सुशोभित है। राहु एवं केतु क्रमशः तर्पण व अंजलि मुद्रा में दर्शाये गये हैं। शैली की दृष्टि से इसे लगभग तेरहवीं शती ई० में रख सकते हैं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण उत्तर भारत में आगरा, खजुराहो[12], सारनाथ[13] आदि स्थानों पर उपलब्ध हैं,जो लगभग दसवीं एवं बारहवीं शती ई० के मध्यकाल की हैं। इनके अतिरिक्त पूर्वी भारत में काकनडीघी (बगाल)[14], कोणार्क[15] व भुवनेश्वर (उड़ीसा), तथा दक्षिण में चिदम्बरम (तामिलनाडु)[16] से भी इस प्रकार की प्रतिमायें प्रकाश मं आई हैं, जो लगभग बारहवीं-तेहरवीं शती ई० की हैं। किन्तु उनके आयुध भिन्न हैं। उड़ीसा में राहु के बायें व दाहिने हाथों में क्रमशः पुस्तक व चन्द्र दर्शाये गये हैं, जो सम्भवतः विष्णुधर्मोत्तर से प्रभावित हैं। इसी प्रकार केतु के बायें हाथ में दीपक व दाहिने हाथ में खड्ग है, जो स्पष्टतः अग्निपुराण पर आधारित है। लगभग बारहवीं शती ई० में निर्मित चिन्दबरम स्थित राहु एवं केतु की सर्प फण से युक्त आवक्ष युगल प्रतिमायें सम्मिलित रूप से एक कुण्ड के उपर प्रदर्शित हैं।

पंचम चरण (केतु का सर्प स्वरूप)—

विकास के पंचम एवं अंतिम चरण में केतु का अंकन पूर्णरूप से पाँच फण वाले कुण्डली सर्प के रूप में हुआ है। ऐसी एकमात्र प्रतिमा राजकीय

संग्रहालय, मथुरा में है।[17] इसमें समस्त ग्रह आसन मुद्रा में चित्रित हैं। सूर्य, राहु एवं केतु के अतिरिक्त शेष सभी ग्रह दाहिने हाथ में कमल व बायें हाथ में कमण्डलु धारण किये हैं। यहाँ केतु को राहु के ठीक ऊपर पाँच फण वाले कुण्डली सर्प के रूप में दर्शाया गया है। इस प्रकार के अन्य उदाहरणों के अभाव में प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से इसे अद्वितीय कहा जा सकता है। मथुरा कला में केतु के क्रमिक विकास को हम संक्षेप में निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत कर सकते हैं :—

चरण	प्रकार	रूप	संग्रहालय	सख्या	काल
प्रथम	मानव	स्त्री	लखनऊ	५८.१३	आठवीं शती ई०
द्वितीय	मानव	पुरुष	मथुरा	३८.२८३६ ८०.२३	दशवीं शती ई०
तृतीय	मानव-सर्प	नागी	मथुरा	५०४.००	नवीं शती ई०
चतुर्थ	मानव-सर्प	नाग	मथुरा	१७.१३५	तेरहवीं शती ई०
पंचम	सर्प	सर्प	मथुरा	७३ २२	बारहवीं शती ई०

इस सन्दर्भ में सिकन्दरा राऊ (अलीगढ जनपद) से प्राप्त एक खण्डित शिलापट्ट भी उल्लेखनीय है। लगभग दसवीं शती ई० की यह नवग्रह प्रतिमा संप्रति राजकीय संग्रहालय, मथुरा में सुरक्षित है। प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि मे से यह प्रतिमा इसलिये महत्वपूर्ण है कि इसमें नवग्रहों का प्रारम्भ कुबेर से दर्शाया गया है। किन्तु आगरा एवं सारनाथ स्थित उदाहरणों में नवग्रहों का प्रारम्भ गणेश से हुआ है। इसके विपरीत महाराष्ट्र में माण्डक नामक स्थान से प्राप्त एक प्रतिमा में गणेश का अंकन नवग्रहों के अन्त में हुआ है।[18] जो सम्भवतः नवग्रह पूजा के शुभ समापन का द्योतक है।

उक्त विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

१--नवग्रह मूर्तियों में केतु का स्त्री रूप में अंकन सर्वप्रथम मथुरा में लगभग आठवीं शताब्दी ई० में प्रारम्भ हुआ, यह मथुरा कला की ब्राह्मण धर्म को एक महत्वपूर्ण देन है।

२—नवग्रह मूर्तियों के विकास-क्रम में केतु एकमात्र ऐसा ग्रह है जिसका अंकन सबसे अन्त में प्रारम्भ हुआ, किन्तु जिसके स्वरूप में सबसे अधिक परिवर्तन हुये। मानव स्वरूप से प्रारम्भ कर केतु मानव-सर्प स्थिति पार कर अन्त में पूर्ण-रूप से सर्प रूप को प्राप्त हुआ। इससे स्पष्ट है कि केतु की स्थिति में निरन्तर ह्रास होता रहा। अन्य ग्रहों की तुलना में शास्त्रकारों ने राहु की भाँति केतु को हेय दृष्टि से देखा, जो सम्भवतः उनकी अनार्य (नाग) उत्पत्ति के कारण था।

उक्त विकासक्रम के बावजूद केतु के पुराने स्वरूप पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हुये। उनका प्रचलन बाद में उसके नवीन स्वरूपों के साथ भी होता रहा है।

३—नवग्रह प्रतिमाओं में केतु एवं सर्प का घनिष्ट सम्बन्ध दर्शाया गया है। ब्राह्मण नवग्रह मूर्तियों के अतिरिक्त जैन व बौद्ध धर्म में भी सर्प का अंकन प्राय: केतु के आयुध अथवा वाहन के रूप में हुआ है। दक्षिण भारत में सर्प फण का प्रयोग राहु एवं केतु दोनों के साथ हुआ है। सम्भवत: सर्प, राहु एवं केतु के नाग उत्पत्ति का द्योतक होने के साथ ही भय, कष्ट एवं मृत्यु का भी प्रतीक है। इस प्रकार नवग्रह मूर्तियों में राहु एवं केतु का अंकन आर्य एवं अनार्य (नाग) संस्कृतियों के समन्वय का प्रयास है। विकासक्रम के अन्तिम चरण में केतु का स्वरूप पाँच फण वाला कुण्डली सर्प है, जिसका एकमात्र उदाहरण मथुरा संग्रहालय में उपलब्ध है। प्रतिमा शास्त्रीय दृष्टि से यह अद्वितीय है।

४—नवग्रह मूर्तियों के अंकन में शिल्पियों ने प्राय: क्षेत्रीय आधार पर विभिन्न मूर्तिशास्त्रीय ग्रन्थों का उपयोग किया है। उदाहरणस्वरूप जहाँ एक ओर उत्तर भारत में अपराजित पृच्छा एवं रूपमण्डन का उपयोग हुआ है, वहाँ दूसरी ओर पूर्वी भारत में विष्णु धर्मोत्तर तथा अग्निपुराण का। किन्तु कलाकारों ने मूर्तिशास्त्रीय नियमों का निर्वाह करने के साथ-साथ अपनी कल्पनाशक्ति का भी यथासम्भव प्रयोग किया है।

६—उत्तर भारत में नवग्रह मूर्तियों का प्रारम्भ प्राय: गणेश से होता है, किन्तु राजकीय संग्रहालय, मथुरा में उपलब्ध एकमात्र उदाहरण से नवग्रहों का प्रारम्भ कुबेर से हुआ है।

अन्त में यह उल्लेखनीय है कि उक्त निष्कर्ष सीमित पुरातात्विक साक्ष्यों पर आधारित होने के कारण पूर्णरूप से तदर्थ हैं। वास्तव में इस निबन्ध का उद्देश्य विद्वानों का ध्यान मथुरा की नवग्रह प्रतिमाओं की ओर आकृष्ट करना मात्र है। आशा है विद्वत्जन उनके महत्व पर विस्तृत पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर नवीन प्रकाश डालेंगे।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी :—

१- जे० एन० बनर्जी, द डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू आइकनोग्रैफी (नई दिल्ली, १९७४) पृष्ठ ४४४, चित्र ३१.१

२- एन०पी० जोशी, भारत मूर्तिकला (नागपुर, १९७९) पृ० २९६, संग्रहालय सं० ५८.१३

३- रामाश्रय अवस्थी, खजुराहो की देवप्रतिमायें (आगरा, १९६७) पृ० १९४, चित्र ८४, संग्रहालय सं० ६.१८६ एवं १४५५
४- एन०पी० जोशी, मथुरा स्कल्पचर्स (मथुरा, १९६६) पृ० ८७, चित्र ९१, संग्रहालय सं० ३८.२८३६
५- संग्रहालय सं० ८०.२३
६- संग्रहालय सं० ५०४
७- प्रमोद चन्द्र, स्टोन स्कल्पचर इन द अलाहाबाद म्यूजियम (बम्बई, १९७०) पृ० १५२
८- वही, पृ० १३९
९- वही, पृ० १५२
१०- संग्रहालय सं०, एच–९९
११- संग्रहालय सं०, १७.१३५
१२- अवस्थी, पृ० १९४–१९६, चित्र ८३
१३- दयाराम साहनी, कैटलाग म्यूजियम आफ आरक्यालाजी एट सारनाथ (कलकत्ता, १९१४) पृ०३२३
१४- बनर्जी, पृ० ४४५, चित्र २१.१
१५- देबला मित्रा, कोणार्क (नई दिल्ली, १९६१) पृ० २३, चित्र १२ व १३
१६- एच० कृष्णा शास्त्री, साउथ इण्डियन इमेजेज आफ गाडस एण्ड गाडेसेज (मद्रास, १९१६) चित्र १४५
१७- संग्रहालय सं० ७३.२२
१८- जोशी (१९७९) संग्रहालय सं० एन–७८

(मथुरा संग्रहालय के सौजन्य से)

---

* यह लेख भारतीय कला के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कलात्मक अंकन के मूल्यांकन का प्रयास है, देवपूजा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

—०—

आचार्य शुक्ल और लोकमंगल

डा० राममूर्ति त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय

शुक्लजी का समस्त चिन्तन चाहे परमार्थ चिन्तन हो, व्यवहार चिन्तन हो या काव्य चिन्तन–मानवभाव की लोकमंगल पर्यवसायीचरितार्थता से सम्बद्ध है। इसीलिये वे मानते हैं कि कविता मनुष्य के साथ शेष सृष्टि के प्रकृत रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह करती हैं, इसी में लोकमंगल निहित है। पारम्परिक काव्य चिन्तन भी औसत रूप में 'रस' को ही काव्य की आत्मा मानता है और रसोपयोगी घटकों के संयोजन में ही कवि-कर्म की मुख्यता स्वीकार करता है और स्वीकार करता है कि कविता का सर्जन और ग्रहण समष्टि विरोधी अहत्ता के विसर्जन में सम्भव है। कविता की उद्‌भववादी भूमि और फलन भूमि–दोनों ही समष्टिचित्त हैं–इसोलिए कविता का आस्वाद "सामाजिक" ही करना है, अ-सामाजिक नहीं। यह सब तभी सम्भव है जब काव्य की सारी सामग्री समाजानुमोदित अर्थात् उचित हो। औचित्य ही रस की परा उपनिषद् है। पारम्परिक काव्य चिन्तन भी मानव-भाव (स्व-भाव) की चरितार्थता पर बल देता है–पर उसकी व्याख्या आत्मवादी दृष्टि से करता है जबकि शुक्लजी भी मानव-भाव पर बल देते हैं–पर व्याख्या बदल देते हैं, व्यक्त जगत के अनुरूप करते हैं। पारम्परिक चिन्तन "स्वभाव को अतिप्राकृत रस या आनन्दमय मानता है जबकि शुक्लजी उसे "परार्थता" "परहित प्रवृत्ति" "लोकहितकारिता" या "इन्सानियत" समझते हैं। इसलिए ऊपर की तमाम बातों में एकरूप रहते हुए "स्वभाव" की व्याख्या के भेद के कारण गहरा अन्तर या प्रस्थान पार्थक्य हो जाता है। दोनों की काव्य-दृष्टि, रस विषयक अवधारणा आदि सभी अलग हो जाते हैं। शुक्लजी का काव्य-चिन्तन'लोकमंगल' में ही विसर्जित हो जाता है–पारम्परिक काव्य-चिन्तन "लोकमंगल" को आत्मसात् करता हुआ "आत्ममंगल" में पर्यवसित होता है। पारम्परिक चिन्तन आत्मा से आत्मा की ओर ले जाता है—शुक्लजी का काव्य-चिन्तन आत्मा या अव्यक्त से आरम्भ अवश्य होता है–पर पर्यवसित "व्यक्त–सौन्दर्य" में ही होता है–यह युगचेतना का तकाजा है। इसमें हम उनकी व्यक्तवादिता की परिणति कह सकते हैं-जिसमें दार्शनिक असंगति उभर सकती है। पर यहो तो उनका

प्रस्थान-पार्थक्य है–इसी में तो उनका आचार्यत्व निहित है–वह विवादास्पद बन जाय–यह बात भिन्न है ।

पारम्परिक काव्य चिन्तन और शुक्लसम्मत काव्य-चिन्तन के मूल में निहित "अव्यक्तवादी" और "व्यक्तवादी" जीवन दृष्टि के भेद के कारण अन्तर ही अन्तर उमड़ पड़ते हैं । रस को काव्य की आत्मा दोनों मानते हैं–पर जहाँ पारम्परिक काव्य-चिन्तन उसे अनिवार्यतः आनन्दमय और केवल काव्य तथा नाट्य आदि में ही समर्थित करता है–लोकजीवन की वास्तविक अनुभूति से उसे भिन्न ठहराता है–वहाँ शुक्लजी उसे "आनन्द" का पर्याय नहीं मानते–उसे काव्य और नाट्य से खींचकर लोकजीवन तक व्याप्त मानते हैं और मानते हैं कि रसानुभूति लोकजीवन में भी होती है–उसके लिये कल्पित रूप-विधान हो नहीं, स्मृत और प्रत्यक्ष रूप विधान भी उपादेय हैं । यदि रसानुभूति हृदय की मुक्त दशा है और है–तो वह लोक-जीवन में भी अनुभूत होती है । पारम्परिक काव्य-चिन्तन जहाँ रस के मूल 'भाव' का विचार वासना-वासित-हृदय सुहृदय के पक्ष से पर्यवसित रसात्मक प्रभाव की दृष्टि से करता है वहाँ शुक्लजी विषयबद्ध लौकिक पात्र की ओर से करते हैं । मनोविज्ञान भाव या मनोविकार का लौकिक पात्र में ही विचार करता है–इसलिए जहाँ पारम्परिक काव्य चिन्तन में 'भाव', 'भावन' 'यावासन' का पर्याय है वहाँ शुक्लजी की दृष्टि में मनोविज्ञान के अनुसार प्रत्ययबोध अनुभूति और वे युक्त प्रवृत्तिका संश्लिष्ट रूप है । इसीलिए जहाँ एकत्र रसानुभूवि संविद् "विश्रान्ति" है वहीं अन्यत्र लोकमंगलोपयोगी कर्म में "प्रवृत्ति" है–एकत्र रस साध्य है–अन्यत्र माध्यम है । शुक्लसमस्त रस दशा और कुछ नहीं हृदय की उदात्त, अवदात या सात्विक दशा ही है–जिसे हम इन्सानियत कह सकते हैं । एकत्र अनिवार्यतः रस आनन्दमय है जबकि अन्यत्र सुख-दुःखोभयात्मक–फिर भी रसात्मक इसलिए कि मुक्त हृदय से अनूभूत होने के कारणबद्ध हृदय की अनुभूति की अपेक्षा अनुद्वेजक या अ-विक्षोभकारो होता है । पारम्परिक काव्य-चिन्तन में आत्मपाद की भूमिका गृहीत है–इसलिए यहाँ रस अखण्ड और कोटिविहीन होता है जबकि शुक्लजी की रसानुभूति उत्तम और मध्यम कोटि की होतो है और यदि चामत्कारिक उक्ति को भी काव्य कहें–तब तो तीन कोटियों की होगी–उत्तम और मध्यम के साथ निकृष्ट भो । शुक्लजी रस की उत्तम स्थिति वहीं मानते हैं जहाँ आश्रय, ग्राहक और कवि तीनों का तादात्म्य हो और मध्यम वहाँ, जहाँ आश्रय से ग्राहक तटस्थ रह कर अतिरिक्त भावात्मक प्रतिक्रिया दे । पहली परितुष्ट भूमि है–दूसरी अपरितुष्ट । इसीलिए शुक्लजी पारम्परिक काव्य-चिन्तन से हटकर भाव और स्थायीभाव का लक्षण भिन्न कर लेते हैं–भाव के लिये आलम्बन का निर्दिष्ट होना आवश्यक है–पारम्परिक काव्य-चिन्तन में 'उत्साह' पर यह लक्षण घटित नहीं होता–फिर भी उसे रस-पारिपाक की दृष्टि से भाव ही नहीं "स्थायीभाव"

तक कहा गया है। शुक्लजी की दृष्टि में स्थायी होने की सम्भावना उसी भाव में होती है–जिसमें आश्रय के साथ ग्राहक का तादात्म्य हो-साथ ही अवसर-विशेष पर जिसके आधिपत्य में अन्य भाव भी अनुकूल होकर संचरित हो रहे हों। एक स्थायी-भाव और है–जिसे भावपद्धति या भावकोश कहना चाहिये। यह मानव हृदय में काफी लम्बे समय के लिये स्थिर हो जाता है–जैसे रति की स्थिरता "प्रीति" में और क्रोध की 'बैर' में परिणत हो जाती है–इसीलिये इनका साथ-साथ उल्लेख होता है ।

रसानुभूति के लिये दो शर्तें हैं–व्यक्तित्व का विलयन और सामग्री का साधारण्य। पारम्परिक चिन्तन में जहाँ साधारणीकरण विभावादि के साथ प्रमाता का भी होता है वहाँ शुक्लजी व्यक्तवादी होने के कारण विभाव और उसमें आलम्बन पर ही बल देते हैं । उनकी दृष्टि में कवि की कल्पना-शक्ति आलम्बन में ऐसी सामान्य विशेषताओं को–जब सहृदय पात्र में समान भावात्मक प्रभाव पैदा कर सके-अर्थात् जहाँ परम्परा स्पष्ट ही विभावादि के मध्य आलम्बन व्यक्ति के साधारणीकरण की बात करनी है–वहाँ शुक्लजी आलम्बन को तो विशेष या व्यक्ति ही रहने देते हैं–पर उसमें निहित विशेषताओं–अर्थात् आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण या सामान्यीकरण स्वीकार करते हैं । निष्कर्ष यह कि 'मानव-स्वभाव' की परिकल्पना भेद से 'रस' की अवधारणा भिन्न हो जाती है और प्रस्थान पार्थक्य स्पष्ट उभर आता है। लोकमगल पर्यवसायी मानव स्वभाव की युगानुरूप अवधारणा 'रस' की अवधारणा में भेद पैदा करती है । इसीलिए परम्परा से हटकर शुक्लजी काव्य लक्ष्य 'आनन्द' 'सौन्दर्य' या 'चमत्कार'—तीनों नहीं मानते उन्हें इनमें विकृतिग्रस्त होने की सम्भावना दिखाई देती है। जो व्यक्ति यह मानता है कि कविता मानवभाव की रक्षा और निर्वाह करती है अथवा मानव के साथ शेष जगत् के प्रकृत रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा करती है–अथवा भावसंचार करके दूसरों के सुख-दु:ख से सुखी और दु:खी करके हृदय का परिष्कार करती है–वह विलास की ओर घसीट ले जाने वाले 'आनन्द' के साथ क्यों मुँह मिलाएगा ? कला की पच्चीकारी से जुड़ने वाले "सौन्दर्य" के साथ काव्य का सम्बन्ध कैसे मानेगा ? उसकी आँखों में तो लोकमंगल झूठा रहा है-फलतः उसकी रस सम्बन्धी परिकल्पना कुछ और ही होगी–जो मानवता या हृदय की उदात्त दशा के ही रूप में रेखाँकित होगी।

शुक्लजी का समस्त चिन्तन लोकमंगल केन्द्रित है–अतः काव्यचिन्तन भी उसी से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि उन्होंने काव्य की आत्मा 'रस' की व्याख्या उसी के मेल में की। इनके अनुसार काव्य अभिव्यक्ति है–अतः उसका सम्बन्ध "अव्यक्त" से हो ही नहीं सकता–"व्यक्त" से ही होगा—वह बाहर का हो या आभ्यन्तर का। व्यक्त जगत् की अभिव्यक्ति तो कविता या काव्य है ही—

आभ्यन्तर की ओर मुड़ें तो वहाँ भी उसका सम्बन्ध "अव्यक्त राग-द्वेषमयी **वासना** से नहीं, अपितु उनके **व्यक्त** रूप–प्रेम-करुणा तथा **क्रोध** भाव से है।

यों चाहे **व्यक्त** जगत हो या **अभिव्यक्ति**–कविता दोनों को किसी न किसी प्रकार वे मूल सत्ता से सम्बद्ध अवश्य करते हैं। उन्होंने कहा ही है कि व्यक्त जगत् में साधना के सर्वोच्च रूप--**भक्ति और काव्य**–दोनों सच्चिदानन्दमय मूल सत्ता के "आनन्द" पक्ष से जुड़ते हैं--पर कठिनाई यह है कि अभिव्यक्ति या विकास के क्षेत्र में इसका आभास निरन्तर नहीं रहता--उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। आविर्भाव में तो "सौन्दर्य" और "आनन्द" होता ही है--तिरोभाव काल में आवरण असत् को हटाने में जो व्यापार होता है--वह भी "सुन्दर" और प्रशस्त माना जाता है। सच्चा कवि और भक्त--दोनों रूपों पर मुग्ध होता है और दोनों रूपों का गान करता है--एक में "भक्ति रस" होता है और दूसरे में "काव्य-रस"। दोनों के आस्वाद की प्रक्रिया एक ही है--उभयत्र अर्थ का ज्ञान, ज्ञात का भावन या कल्पना से बिम्बन और बिम्ब से भाव का संचार या आस्वाद। भाव का संचार ज्ञात की ही सीमा में होता है--अतः भारतीय पद्धति में अज्ञात के प्रति लालसा या अभिलाषा का प्रश्न हो नहीं उठता--हाँ जिज्ञासा हो सकती है।

"आनन्द" के आविर्भाव और तिरोभाव के कारण काव्य दो प्रकार के हो जाते हैं—

(१) प्रयत्न-पक्षीय सौन्दर्य की अभिव्यक्ति

(२) आनन्द की सिद्धावस्था की अभिव्यक्ति

उत्तम वह है--जहाँ दोनों का समन्वय या सामंजस्य हो। आवरण या असत् की वृद्धि होने पर आनन्द-ज्योति ही शक्तिमय होकर विशिष्ट विभूति के माध्यम से भीषण रूप ग्रहण करती है और उसे ध्वस्त कर आत्मप्रकाश करती है--लोकमंगल या लोकरंजन के रूप में परिणत होती है। सच्चा कवि या भक्त उसके इसी रूप पर रीझता है और स्वयं भींग कर दूसरों को भी भिगोता है। शुक्लजी का कवि (वाल्मीकि, व्यास और तुलसी) भी भक्त ही है–कारण, दोनों जिस सौन्दर्य से भीगते हैं—वह यही प्रयत्नावस्था या सिद्धावस्था से सम्बद्ध होता है। जिस विशिष्ट विभूति के माध्यम से विशिष्ट कर्म सौन्दर्य सम्पादित किया जाता है–वह जिसके हृदय को आकृष्ट करेगा—उसका हृदय भी तो लोक-मंगलकारी के कर्म सौन्दर्य और समंजस रूप सौन्दर्य पर रीझने वाला हो। बात यह है कि भक्ति का घटक है श्रद्धा और श्रद्धा के लिये अपेक्षित हैं दो तत्व—

(१) समष्टि रूप से लोक-लक्ष्य का बोध तथा तदनुरूप सामान्य आदर्शों का बोध, और

(२) कृतज्ञता का भाव ।

ये दो तत्व जिस हृदय में होंगे–वहीं श्रद्धा होगी और श्रद्धा ही श्रद्धेय–लोकमंगलोपयोगी असामान्य गुणसम्पन्न व्यक्ति की ओर मुड़ेगी । श्रद्धावान् आनन्दमग्न होकर–यदि कवित्व शक्ति सम्पन्न है– तो श्रद्धाभारित हृदय को काव्यात्मक अभिव्यक्ति दे सकता है–और एक सोपान और आगे का हो--तो भक्ति (श्रद्धा + प्रेम) भारित हृदय को । दोनों काव्य ही हैं–एक सामान्य किन्तु रसात्मक काव्य–इन्सानियत से आपूरित और दूसरा भक्ति काव्य । दोनों के आलम्बन और रूप सौन्दर्य तथा कर्म सौन्दर्य व्यक्त जगत् का है और उससे पैदा होने वाली पूज्यत्व बुद्धि और आनन्द संचार मनोमय कोश की–फलत: रहस्यमयता कहीं है ही नहीं ।

"यह सूधो सनेह को मारग है जहां नेक सयानय बांक नहीं ।"

कहने का आशय यह कि मूलभूत आनन्दमयी ज्योति के लोकमंगल रूप में आत्मप्रसार का जो प्रयत्नपक्षीय और सिद्धिपक्षीय स्वरूप है–उस पर रीझने वालाहृदय–कवि-हृदय है । इस हृदय में जो लोकमंगल-विधायी संस्कार या सम्भावना विश्वात्मा की इच्छा ने भर दी है–कवि हृदय इसे चरितार्थ करने में ही तुष्टि अनुभव करता है और सुहृदय ग्राहकों को भी उसी भूमिका पर उठा ले जाता है ।

शुक्लजी लिखते हैं—"काव्य-दृष्टि से जब हम जगत् को देखते हैं–तभी, जीवन का स्वरूप और सौन्दर्य प्रत्यक्ष होता है । इस दृष्टि का उन्मेष व्यक्तिगत सम्बन्ध के संकुचित मण्डल से ऊपर लोक-सामान्य भावभूमि पर आरूढ़ होने पर होता है–जहाँ जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ मनुष्य के प्रकृत संबध का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है । इस सौन्दर्य के अभ्यास से हमारे मनोविकारो का परिष्कार और जगत् के साथ हमारे सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है ।" मतलब आनन्द ज्योति के आत्मप्रकाश के निमित्त होने वाले प्रयत्न और तज्जन्य सिद्धि में स्फुरित सौन्दर्य सुहृदय को काव्य-दृष्टि देता है और काव्य-दृष्टि हो तो यह सौन्दर्य लक्षित होता है ।

इस सन्दर्भ में दो बातें शुक्लजी और कहते हैं—पहली यह कि हमारे

हृदय की न जाने यह कौन-सी रहस्यमय वृत्ति है जो तमोविदारक परमविभूति में बहिरंतर के सामंजस्य में ही सौन्दर्य देखना चाहती है । इसीलिए हमारे अवतार अपनी आकृति में भी और अपने हृदय-वृत्ति में भी–चरम सुन्दर चित्रित हुए हैं–उनके रूप में भी सौन्दर्य है और व्यापार में भी आकर्षण । इसीलिए यहाँ प्रसिद्धि है–"यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति" राक्षसों में इसका वैपरीत्य है । इसी के साथ आचार्य शुक्ल यह भी कहते हैं कि प्रयत्न में भी विरुद्धों का सामजस्य ही सौन्दर्यमय होता है । प्रयत्न में करुणा का ही प्रेरकत्व एकांगी है–करुणा के साथ क्रोध का सामंजस्य ही परिपूर्ण सुन्दरता प्रदान करता है । रावण के दमन में लोक पर करुणा और उसे चरितार्थता प्रदान करने वाले रावण विषयक क्रोध–जब तक दोनों भाव कर्म-व्यापार के प्रेरक नहीं होते–तब तक उसमें पूर्ण सौन्दर्य का दर्शन नही होता । बाल्मीकि के शाप को करुणा और क्रोध का ही सामंजस्य अपूर्व सौन्दर्य प्रदान करता है । लोकमंगल के सन्दर्भ में यही "सौन्दर्य" कवि हृदय और भक्त हृदय को आकृष्ट करता है–"आनन्द" मग्न करता है–काव्य में यदि "सौन्दर्य" और "आनन्द" को लेना है–तो इसी आशय से लेना चाहिये–अन्यथा उनमें अतियों और विकृतियों के आने की सम्भावना है ।

लोकमंगल के सन्दर्भ में 'भाव' पर विचार करने के कारण 'संचारी' और 'स्थायी' से आगे बढ़कर आचार्य शुक्ल ने 'बीजभाव' की बात की है । उनका कहना है—'भाव की प्रक्रिया की समीक्षा से पता चलता है कि उदय से अस्त तक भावमण्डल का कुछ भाग तो आश्रय की चेतना के प्रकाश (कांशस) में रहता है और कुछ अंत:संज्ञा के क्षेत्र (सब-कांशस रीजन) में छिपा रहता है। संचारी भावों के संचरण काल में कभी-कभी उनके स्थायी भाव कारण रूप में अंत:संज्ञा के भीतर पड जाते हैं । जिस प्रकार किसी आश्रय के भीतर कोई एक भाव स्थायी रहता है और अनेक भाव तथा अंतर्दशाएँ उसके संचारी के रूप में आती हैं उसी प्रकार किसी प्रबन्ध काव्य के प्रधान पात्र कोई **मूलप्रेरक भाव** या **बीजभाव** रहता है–जिसकी प्रेरणा से घटनाचक्र चलता है और अनेक भावों के प्रस्फुटन के लिए जगह निकलती चलती है । इस **बीजभाव** को साहित्यग्रन्थों में निरुपित स्थायी भाव और अगीभाव–दोनों से भिन्न समझना चाहिए । बीजभाव निरुपण के बाद 'लोकमंगल' से जोड़ते हुए आगे वे कहते हैं–'बीजभाव द्वारा स्फुरित भावों में कोमल और मधुर, कठोर और तीक्ष्ण–दोनों प्रकार के भाव रहते हैं । यदि बीजभाव की प्रकृति 'मंगल-विधायिनी' होती है तो उसकी व्यापकता और निर्विशेषता के अनुसार सारे प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुन्दर होते हैं । भावों की छानबीन करने पर मंगल का विधान करने वाले दो ही भाव ठहरते हैं—करुणा और प्रेम । करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर । लोक में प्रथम साध्य रक्षा है–रंजन का अवसर उसके पीछे आता है । अत: साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर

चलने वाले काव्यों का बीजभाव करुणा ही ठहरता है। और सिद्धावस्था या आन्तर-पक्ष को लेकर चलने वाले काव्यों का बीजभाव—प्रेम। काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेम भाव की कोमल व्यंजना ही में नहीं माना जा सकता-जैसा कि टालस्टाय के अनुयायी मानते हैं। वे इस साधुवृत्ति को आध्यात्मिक शक्ति मानते हैं। यह वस्तुतः सात्विक वृत्ति है-जो प्रकृति का सर्वोच्च गुण है-इस विदेशी अर्थ में 'अध्यात्म' शब्द का काव्य-कला के क्षेत्र में कोई अर्थ नहीं है। सात्विक वृत्ति को काव्य का उत्कर्षाधायक तत्व शुक्लजी भी मानते हैं-पर दोनों रूपों में-अन्तः-संज्ञा में स्थित अव्यक्त बीज रूप में भी और प्रकाश रूप में भी। उच्च दशा का प्रेम और करुणा दोनों ही सत्वगुण प्रधान हैं—इनके वक्षस् पर जब कठोर वृत्तियाँ आती हैं-तब वे भी मंगल विधायनी हो जाती हैं-क्योंकि वे सात्विक के शासन में हैं। व्यक्त जगत् की तह में ताने-बाने की तरह विद्यमान सत्व, रजस् तथा तमस् अथवा सत् और असत् सतत बने रहने वाले हैं-उनमें से किसी के विनाश की तो सम्भावना नहीं है-अतः लोकमंगल दोनों के सामंजस्य में ही होगा-उसका अर्थ यही होगा कि सत्व का प्राधान्य हो जाए और रजस्-तमस् उसके निर्देशन में चलें।

एक बात और। वासना के रूप में दो ही वृत्तियाँ अव्यक्त रूप से हृदय में पड़ी रहती हैं-राग और प्रेम। पहली मिलाती है और दूसरी अलगाती है। रासायनिक मूल द्रव्यों के राग से ही सृष्टि का विकास होता है। रागमयी वासना का ही व्यक्त रूप है-प्रेम और करुणा। काव्य अभिव्यक्ति है अतः उसका सम्बन्ध अव्यक्त राग से नहीं, व्यक्त प्रेम और करुणा से है। ये ही व्यापक और निर्विशेष होकर सात्विक होते हैं और उन्हीं के प्रभाव में जब उग्र वृत्तियाँ आवरण हटाती हैं-तब पूर्ण सौन्दर्य का प्रकाश होता है।

शुक्लजी ने बीजभाव को स्थायी और अंगी-दोनों से भिन्न कहा है और पारम्परिक काव्य-चिन्तन में उसका अभाव कहते हुए भी पारम्परिक काव्यों को उदाहरण रूप में रखा है। रक्षाभाव को प्राथमिकता देने वाले रामकाव्य के निर्माता भवभूति के सम्बन्ध में प्रसिद्ध उक्ति "एको रसः करुण एव" में उन्हें करुणा बीजभाव का समर्थन मिलता है और रंजन को प्रामुख्य देने वाले वल्लभ द्वारा प्रतिपादित प्रेम की साध्यता में प्रेम बीजभाव का। अथवा शृंगार को रसराज या 'शृंगार एव रसनाद् रसयामनन्ति' जैसी उक्ति से भी उक्त तथ्य की संपुष्टि की जा सकती है। अभिनव गुप्त ने "अभिनव भारती" में एकमात्र भाव के नाम पर "राग" को ही माना है और बताया है कि एक ही राग निमित्त भेद से अन्य भावों में बदल जाता है। शुक्लजी 'राग' के 'प्रेम' वाले रूप से 'करुणा' वाले रूप को ज्यादा महत्वपूर्ण और व्यापक मानते हैं। शुक्लजी

न तो एकान्ततः 'करुणा' के पक्षधर हैं और न ही 'श्रृंगार या 'प्रेम' के । वे तो अनुभूति द्वन्द्व-सुख तथा दुःख से विकास मानते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि सुख को वे आत्मपरक ज्यादा मानते है और करुणा को लोकपरक । व्यक्ति के करुणा में जितना आत्मविस्तार होता है–प्रेम में नही । वे मानते है–व्यक्त जगत् में दोनों की स्थिति–पर यह भी खुलकर कहते है कि—करुणा में जो सार्वभौमि स्थिति है–वह आनन्दवादी धारणा में नही। पर स्मरणीय है कि यह मान्यता उनको व्यक्तवादिता का परिणाम है--व्यक्त जगत् में ही मानव प्रकृतिगत लोकमंगल विधायिनी सम्भावना की पूर्ण चरितार्थता मानने के कारण है ।

—o—

"बसै बुराई जासु तन"

डा० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता, दर्शन-विभाग
गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय

आज से बहुत वर्ष पहले जीवन की अपरिपक्व आयु में एक पद्य पढ़ा था—

बसै बुराई जासु तन ताही को सन्मान ।
भलो भलो कह छाँड़िये, खोटे ग्रह जपदान ।।

बालमतित्वबश इसकी अन्यर्थता उस समय ज्ञात नहीं थो। 'जहाँ सुमति तहं सम्पति नाना' के संस्कार बद्धमूल थे। अतः सोच लिया था कि शायद कवि उस समय हास्य के मूड में होगा या राजा के दरबार में किसी दुष्ट चापलूस की उन्नति देख कर मन खट्टा हो गया होगा इसीलिये यह पद्य मुँह से निकल गया होगा। कभी-कभी कवि-जन अपने निरंकुश स्वभाव के कारण निर्दोष को भी चपत लगा जाते हैं। जैसे डा० हजारीप्रसाद के शब्दों में कविवर रहीम ने सेहुंड और करीर के साथ कुटज को भी एक चपत लगा दी। जैसे-

अब रहीम वे बिरछ कँह
जिन कर छाँह गँभोर ।
बागन बिच बिच देखियत
सेहुंड कुटज करीर ।।

लेकिन ऐसा सोचना तब था। अब विचार बदल गये हैं। अब उपरिलिखित पद्य की सार्थकता अनुभूत होने लगी है। सोचता हूँ वह कवि कितना अनुभवी होगा जिसने इस तथ्य को संसार की चिन्ता न करते हुए और शास्त्रों के धर्मवचनों की अवहेलना का भी भय न मानते हुए, डंके की चोट पर कह गया कि संसार में दुष्ट का सम्मान होता है। सीधे और सादे, धर्मपरायण तथा कर्तव्यनिष्ठ लोगों का यहाँ धरती पर सम्मान नहीं होता। उनका सम्मान किसी और लोक में होता हो तो ज्ञात नहीं।

सज्जनता और संसार की अनुकूलता सचमुच साथ-साथ नहीं चल सकते। आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले रहीम कह गये हैं—

अब रहीम मुश्किल पड़ी गाढ़े दोऊ काम ।
साँचे से तो जग नहीं झूँठे मिलैं न राम ॥

ये विचार कवि के चिरकाल के चिन्तन-मन्थन से प्रसूत प्रतीत होते हैं। कविवर रहीम राजा के आश्रय में पलने वाली खलमण्डली के बीच रहते थे। ऐसे में अपना दामन बचाने में सचमुच कवि ने स्वयं को असमर्थ महसूस किया होगा। सत्य बोलने से जीविका छिनती थी और ठकुरसुहाती असत्य वाणी बोलने में परलोक बिगड़ता था। ऐसी विविध विषम परिस्थिति में विवेक की परीक्षा होती है। ऐसे संकटकाल में ही नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों का निर्माण होता है। अब आप ही बताइये कि एक सीधा-सच्चा व्यक्ति क्या करे? एक नीति-शास्त्री कहता है—नात्यन्तं सरलै—र्भाव्यम्—अर्थात् बहुत सरल नहीं होना चाहिये। क्योंकि सीधे-सीधे पेड़ ही काटे जाते हैं। तिरछे पेड़ बड़े आनन्द के साथ झूमते रहते हैं। एक अन्य विचारक की मान्यता है—

जानन्नपि हि मेधावी ।
जड वल्लोक आचरेत् ॥

अर्थात् सब कुछ जानकर भी इस लोक में स्वयं को मूर्ख के समान प्रकट करना चाहिये। इसी में कल्याण है। यह जानते हुए भी कि यह व्यक्ति गुण्डा है, झूठा है, वंचक है, मिथ्या प्रेम प्रकट कर रहा है, फिर भी चुप ही रहना चाहिये। यह सोच लेना चाहिये कि हिंसक स्वयं अपने कर्मों से ही विनष्ट हो जायेगा। बुरे को बुरा कहने में हानि हो सकती है। सत्पुरुष को चाहे सत्पुरुष न कहो, भले ही उसे प्रणाम न करो, भले ही उसके मुख पर अपशब्द कह दो, तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा। किन्तु दुष्ट को दुष्ट कहोगे तो मार खाओगे। इसीलिये—"दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्" इस नीति का निर्धारण करना पड़ा। यह सत्पुरुषों की चाहे विवशता कहो या करामात कहो या उनकी समझदारी कहो कि वे वंचक की वंचकता को जानते हुए भी उसका प्रतिवाद नहीं कर पाते। ऐसी ही मनःस्थिति में शायद कवि के मुख से यह वाक्य निकला होगा :

यद् वंचना हितमति र्बहु चाटुगर्भं
कार्योन्मुखः खल जनः कृतकं ब्रवीति ।
त त्साधवो न न विदन्ति विदन्ति किन्तु
कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥

अर्थात् एक वंचनापूर्ण दुष्ट पुरुष अपना कार्य सिद्ध करने के लिये

चापलूसो से पूर्ण बनावटी वचन बोलता है। सत्पुरुष उसकी इस वंचना को न समझते हों, ऐसी बात नहीं। समझते तो हैं। किन्तु उसके मिथ्या प्रेम को भी ठुकराने में समर्थ नहीं हो पाते।

यहाँ पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस सदाचार और सन्मार्ग पर प्रत्येक परिस्थिति में सदा सर्वथा आरूढ़ रहा जाये या किसी कारण वश समयानुसार उस मार्ग से हटकर बुराई को बुराई से काटा जाये। नीतिशास्त्र के बहुविध न्यायों से तो मतिभ्रम होता है। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसने महान् कवियों, शास्त्रकारों और चिन्तकों को भी उलझन में डाल रखा है—किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। जो पर्वतसम दृढ़वादी हैं वे तो 'न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः' की उक्ति के अनुसार प्रत्येक स्थिति में सन्मार्ग पर ही चलते हैं। कुछ लोगों ने खलों की खलता से हार मानकर उनसे समझौता कर लिया है। महाकवि वाण भट्ट भी दुष्टों से भय मानते हैं। उन्होंने कहा—

अकारणा विष्कृत वैर दारुणा—
दसज्जनात् कस्य भयं न जायते।
विषं महाहेरिव यस्य दुर्वचः
सुदुस्सहं सन्निहितं सदा मुखे॥

जो बिना कारण ही बैर करे, भला उससे किसको भय नहीं होता है। दुर्जन के मुख में दुर्वचन रूपी विष सदैव विद्यमान रहता है।

कुछ दूरदर्शी लोग दुर्जनों से प्रेम न करने का उपदेश देते हैं तो दूसरी ओर उनसे बैर न करने की भी सलाह देते हैं :

दुर्जनेन समं वैरं प्रीतिं चापि न चाचरेत्।
उष्णोदहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम्॥

खल की यह पहचान है कि वह दूसरों के दोष ही देखता है, अपने दोषों को नहीं देखता है। सत्पुरुष दूसरों के छोटे से गुण को भी पर्वतीकृत्य देखता है। दोषदृष्टा खलों से सम्पर्क न किया जाये, ऐसा कुछ लोग कहते हैं तो कुछ 'निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय' की उक्ति से अनुसार उनसे परहेज नहीं करते।

उपर्युक्त उपदेश-प्रपञ्च से यदि निष्कर्ष निकालें तो एक सार्वकालिक और सार्वत्रिक तथ्य यही सामने आता है कि खलों का महत्व प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में रहा है। खलों का सम्मान कुछ लोग स्वेच्छा से और कुछ

अनिच्छा से करते ही हैं। इस तथ्य को झुठलाया नहीं जा सकता। धार्मिकों का धर्म इनके सामने डिग जाता है। सत्यवादियों का सत्य इनके सामने मुख से बाहर आने का साहस नहीं करता। लक्ष्मी इनकी पूजा करती है। विद्यावान् लोग इनके सामने मूक हो जाते हैं। ये चाहें तो हवा का रुख भी मोड़ दें, ये चाहें तो समय की धारा को बदल दें। समाज में ये सीना तान कर चलते हैं। राज-नीति में इनकी वन्दना होती है। साहित्य इनकी महिमा से भरे पड़े हैं। किसी आफिस में आपका काम नहीं होता, तो इनकी सेवाएँ प्राप्त कीजिए। कहीं सर्विस में आपकी नियुक्ति नहीं होती तो इनके चरणों में जाइये, ये सब काम कुछ ही क्षणों में करा देंगे। आपका आफिसर आपको परेशान करता है तो इनका एक ही इशारा पर्याप्त है। आप चुनाव जीतना चाहते हैं तो आपको कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, खलमण्डली को साथ रखिये, आप चुनाव जीत जायेंगे। आप प्राध्यापक हैं और अध्यापन की योग्यता आपमें नहीं है तो आपको घबराने की आवश्यकता नहीं है कोई भी आपका बाल बाँका नहीं कर सकता। बस इन भद्र लोगों को साथ रखिये।

इनकी महिमा का कहाँ तक वर्णन करें। घरों में ताला लगाना इन्होंने सिखाया। धर्म में प्रीति इनकी वजह से है। लोगों को सावधान रहने की आदत इन्हीं के कारण पड़ी है। वाणी पर संयम रखना इन्होंने सिखाया। सत्पुरुषों को उनके समक्ष आप भले ही भला न कहें, दुष्टों को तो आप भला कहकर ही पिण्ड छुड़ा सकते हैं। यह सुवचन की आदत भी इन्हीं की वजह से पड़ी है। हर जगह इनका वजूद है। हर जगह इनका सम्मान है। सज्जनों को कोई जानता भी नहीं। अपराध न करके भी सत्पुरुष बिलों में छुपे रहते हैं। धन्य है इन खलों का साहस कि अपराध करके भी खुले आम दनदनाते फिरते हैं। पुलिस इन्सपेक्टर इनके आते ही कुर्सी छोड़कर खड़ा हो जाता है। धन्य है इनकी महिमा। द्वापर में मैथिलीशरण गुप्त ने इस तथ्य को स्वीकार किया है--

अटल एक ही न्याय जगत् में
वह है मत्स्य न्याय।
और एक ही असमर्थों का
है बस मरण उपाय॥

मैंने देखा है कि जिस प्रकार भय के बिना प्रीति नहीं होती, उसी प्रकार उद्दण्डता एवं उच्छृंखलता के बिना भी सम्मान नहीं मिलता। श्वसुर-मन्दिर में वक्र-जामाता का ही अधिक सम्मान होता है। मित्र-मण्डली में खल ही बोस कहलाता है। दुष्ट ग्रहों की शान्ति के लिये ही पूजा पाठ किया जाता है। शुभ ग्रहों में ईश्वर का कोई नाम नहीं लेता। ऐसी वस्तुस्थिति में "बसै बुराई जासु तन ताही को सन्मान" कवि की इस उक्ति को शतशः सत्य कैसे न स्वीकार करूँ।

रासायनिक युद्धकर्मक

डा० ए० के० इन्द्रायन
रीडर, रसायन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

क्या कभी हमने सोचा है कि बमों व गोलों से लड़े जाने वाले युद्ध के अतिरिक्त रसायनों से लड़ा जाने वाला युद्ध कितना घातक है?आधुनिक काल में, विशेषतया पिछले कुछ वर्षों से रासायनिक युद्ध चर्चा का विषय बना हुआ है। इसके कुप्रभाव को देखते हुए, इस पर पूरी तरह से रोक लगाने के लिए विभिन्न राष्ट्र समय-समय पर अपील करते रहे हैं। आखिर यह रासायनिक युद्ध है क्या ? रसायनों के द्वारा लड़ा जाने वाला युद्ध जिसमें हथियारों आदि के बिना ही दुश्मन-सेना को हानि पहुँचायी जा सके, रासायनिक युद्ध कहलाता है। हथियारों की लड़ाई में व्यक्ति मारा जाता है जबकि रसायनों की लड़ाई में व्यक्ति जीवनपर्यन्त विभिन्न प्रकार की गंभीर यातनाओं से पीड़ित रहता है। विएत-नाम में कितने ही व्यक्ति रसायनों के दुष्प्रभाव से आज भी पीड़ित हैं। कहा जाता है कि अमेरिका, रूस व फ्राँस के पास इस प्रकार के युद्धकर्मकों का विशाल भण्डार है।

आधुनिक काल में इस प्रकार की युद्ध पद्धति का प्रयोग प्रथम विश्व युद्ध में उस समय आरम्भ हुआ जब विपक्षी सेनाओं ने अपनी सुरक्षा हेतु खाइयाँ खोदकर उनमें छिप जाने का तरीका अपनाना आरम्भ कर दिया। इस तरीके से युद्ध विराम न होते हुए भी युद्ध विराम की सी स्थिति बन जाती थी। प्रच-लित गोले व बम शत्रु सैनिकों को खाइयों से निकालने में समर्थ नहीं हो पाते थे। ऐसे समय में किसी ऐसे पदार्थ की आवश्यकता महसूस होना स्वाभाविक ही था जो दुश्मन के सैनिकों को खाइयों से निकालकर भगा सके। ऐसे पदार्थों की खोज करके उन्हें सर्वप्रथम २२ अप्रैल, १९१५ को प्रयुक्त करने का श्रेय जर्मनी को जाता है। इस दिन जर्मन सेनाओं ने खाइयों में छिपे फ्राँस के सैनिकों को बाहर निकालने के लिये क्लोरीन गैस के सिलिंडर खोल दिए थे। इन सिलिंडरों से निकलने वाला

जहरीली क्लोरीन गैस को फ्रेंच सैनिकों तक पहुँचाने के लिये वायु के बहने की दिशा का उपयोग किया गया था। जैसा कि अनुमान था, इससे फ्रेंच सेना में भगदड़ मच गयी थी। किन्तु फ्रांस भी इस बारे में बहुत पीछे नहीं रहा, शीघ्र उसने भी जर्मन सेनाओं के ठिकानों पर विषैली गैस फॉसजीन से भरे गोलों की बौछार करके बदला लेना आरम्भ कर दिया था। बस, यहीं से अधिकाधिक घातक रासायनिक पदार्थों की खोज निकालने की जो होड़ आरम्भ हुई वह आज भी पूरे तौर पर जारी है।

शत्रु सेनाओं पर बौछार किए जाने वाले इन रासायनिक पदार्थों की विस्तृत जानकारी यद्यपि अभी भी बहुत कुछ रहस्य से घिरी हुई है, फिर भी शरीर पर होने वाले प्रभावों की दृष्टि से उन्हें पाँच वर्गों में बाँटा जा सकता है :

१—ऐसे पदार्थ जो फेफड़ों को संदुषित करते हैं तथा उनमें शोथ अर्थात् पल्मोनरी ईडिमा उत्पन्न करते हैं।

२—आँखों को प्रभावित करके अश्रु लाने वाले पदार्थ अर्थात् अश्रुकारी।

३—त्वचा पर फफोले डालने वाले पदार्थ अर्थात् फफोलाकारी एवं ऊतनाशक।

४—श्वशनेन्द्रियों को प्रकोपित कर छींक व वमन की स्थिति उत्पन्न करने वाले पदार्थ अर्थात् छिक्कायक।

५—तंत्रिका तंत्र को प्रकोपित कर पक्षाघात की स्थिति उत्पन्न करने वाले पदार्थ अर्थात् तंत्रिका कर्मक (नर्व एजेन्ट्स)।

इनमें सबसे अधिक घातक तंत्रिका कर्मक है। तंत्रिका कर्मक अत्यन्त विषैले रासायनिक पदार्थ होते हैं। इनका विकास मुख्य रूप से द्वितीय विश्व-युद्ध काल में जर्मनी द्वारा किया गया था। ये रसायन माँसपेशियों को नियंत्रित करने वाली तंत्रिकाओं के कार्यों में बाधा उत्पन्न करते हैं। इनमें सामान्य वस्त्रों के प्रति बेधन क्षमता होती है तथा उन्हें बेधकर ये सीधे त्वचा में प्रविष्ट हो जाते हैं। इनसे त्वचा पर पहिले उत्तेजना का आभास होता है, उसके बाद दृष्टि में विषमता उत्पन्न हो जाती है, सीने में कसावट का अनुभव होता है और नाक से पानी बहना आरम्भ हो जाता है। शीघ्र ही साँस लेने में कठिनाई होने लगती है तथा वमन प्रारम्भ हो जाता है। अन्तिम चरण में व्याक्षोभ अर्थात् कन्वलशन होने के साथ-साथ श्वासारोध से मृत्यु हो जाती है। तंत्रिका

कर्मक सामान्यतः गन्धहीन वाष्पशील द्रव होते हैं। सोमान अर्थात् GD, सारिन अर्थात् GB, ताबुन अर्थात् GA एवं VX, ये चार प्रमुख तंत्रिका कर्मक हैं। इनमें VX सर्वाधिक शक्तिशाली है। यह फॉसजीन की तुलना में तीन सौ गुना अधिक विषाक्त होता है। इसकी एक मिलीग्राम मात्रा ही मनुष्य को मार सकती है।

रासायनिक कर्मकों के प्रतिविष (ऐसा पदार्थ जो इनके प्रभाव को नष्ट करता है) का आविष्कार भी हो चुका है। तंत्रिका कर्मकों के लिये एट्रोपिन सल्फेट एक प्रभावकारी प्रतिविष है। तंत्रिका-गैसों के प्रभाव को नष्ट करने के लिये सैनिक एट्रोपिन सल्फेट ही प्रयुक्त करते हैं।

रासायनिक युद्ध कर्मकों में मस्टर्ड गैस का प्रयोग भी बहुत होता है। जर्मन इसे 'लॉस्ट' के नाम से पुकारते हैं क्योंकि इसका आविष्कार लॉमले एवं स्टीनकॉफ नामक वैज्ञानिकों ने किया था। त्वचा के सम्पर्क में आने पर यह तेजी से फफोले डाल देती है। सैनिकों को इससे बहुत बेचैनी का सामना करना पड़ता है तथा उनकी कार्यक्षमता बहुत कम हो जाती है।

कुछ वैज्ञानिकों का कहना है कि विएतनाम की लड़ाई में १९६१ से १९७१ के बीच एक लाख टन से भी अधिक जहरीले रसायनों का प्रयोग किया गया जिनमें VX जैसे अत्यन्त विषैले पदार्थ भी हैं। साथ ही साथ लगभग पाँच करोड़ लीटर 'ऑरेंज' मिश्रण का भी प्रयोग किगा गया। इससे लगभग सोलह लाख विएतनामी प्रभावित हुए। इन रसायनों से वहाँ के वातावरण पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। विशाल खेती, हरी भूमि इसके कारण से बंजर हो गयी है। 'ऑरेंज' मिश्रण का प्रयोग भी किया गया। इसमें लगभग सोलह लाख विएत-नामी प्रभावित हुए। इन रसायनों से वहाँ के वातावरण पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। विशाल खेती हरी भूमि इसके कारण से बंजर हो गयी है। 'ऑरेंज' मिश्रण जिसमें डाएआक्जीन होती है, आज भी वहाँ की मिट्टी में मौजूद है। वहाँ के व्यक्तियों में तंत्रिका-विक्षोभ, चर्मरोग तथा कैंसर व जने-न्द्रियों को हानि के कितने ही उदाहरण हैं। वहाँ की बहुत सी महिलाएँ जनन-शक्ति विहीन हो गयी हैं या गर्भावस्था के काल में हुए प्रभाव के कारण विकृत पैदायश हुई है। यही नहीं, इनको प्रयुक्त करते समय स्वयं बहुत से अमेरिकी सैनिक भी प्रभावित हुए हैं।

रासायनिक युद्ध कर्मकों के प्रयोग पर १९२५ की जेनेवा प्रोटोकॉल व फिर १९७२ की बायोलौजिकल एवं टॉक्सिन वैपन्स कनवेन्शन में रोक लगाने का अन्तर्राष्ट्रीय कानून पास कर दिया था। १९७२ की संधि के अनुसार तो

रासायनिक युद्ध कर्मकों का उत्पादन ही नहीं, वरन् जमा करना या एक देश से दूसरे देश में भेजना भी अवैध माना गया है। किन्तु फिर भी कभी-कभी इनका प्रयोग कुछ देश करते रहे हैं, चाहे वे इसे स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार के हथियारों पर कठोर प्रतिबन्ध लगाने के लिये संयुक्त-राष्ट्र संघ में भी समय-समय पर प्रस्ताव आते रहे हैं, परन्तु अमेरिका इनके विरुद्ध मत देता रहा है। उसने वीटो का इस्तेमाल भी किया है।

ईरान व ईराक के मध्य हो रहे खाड़ी के युद्ध में ईराक द्वारा रासायनिक युद्धकर्मकों के प्रयुक्त किये जाने का सन्देह है। पिछले वर्ष मार्च में ईरान में बहुत से सैनिक इससे प्रभावित पाए गए। पहिले अनुमान था कि इन पर ईराक द्वारा इस्तेमाल की गई जहरीली मस्टर्ड गैस का प्रभाव है। मस्टर्ड गैस के लिये सल्फर का एक यौगिक प्रतिविष का कार्य करता है। परन्तु इन व्यक्तियों में यह प्रतिविष प्रभावकारी नहीं हुआ। मस्टर्ड गैस का प्रभाव केवल त्वचा, आँखों व फेफड़ों पर पड़ता है, परन्तु इन सैनिकों में इन लक्षणों के अतिरिक्त कुछ अन्य लक्षण, जैसे अत्याधिक आंतर रक्तस्राव का होना तथा रक्त की सफेद कौशिकानिर्माण का बन्द होना भी पाया गया। अतः इन सैनिकों को उपचार के लिये आस्ट्रीया व स्वीडन भेजा गया। इनमें कुछ की मृत्यु भी हो गयी। प्रभावित व्यक्तियों का खून व मल-मूत्र आदि का परीक्षण करने पर ज्ञांत हुआ कि इन पर मस्टर्ड गैस व माइकोटॉक्सिन के मिश्रण का प्रभाव है। इन दोनों के मिश्रण का प्रभाव अत्यन्त घातक होता है तथा न ही इसके लिये कोई प्रतिविष ही है। माइकोटॉक्सिन को ही 'पीत वर्षा' यानी 'yellow rain' के नाम से जाना जाता है। इसका नाम 'पीत वर्षा' पड़ने का कारण यह है कि जब इसे वायुयानों द्वारा दुश्मन देश के क्षेत्र में छोड़ा जाता है तो यह पीले या धीरे-धीरे नारंगी बादल के रूप में वायुयान से निकलतो है। यह बादल धोरे-धोरे जमीन के निकट आता जाता है। इस बादल में छोटे-छोटे कण होते हैं जो छत या पेड़ों पर गिरने से ऐसी आवाज करते हैं जैसे कि वर्षा हो रही हो। जो व्यक्ति इस वर्षा के सीधे सम्पर्क में आते हैं उन पर अतिशीघ्र इसका प्रभाव होता है। पहिले त्वचा पर खुजली का आभास होता है, उल्टियाँ आने लगती हैं तथा दृष्टि में विषमता आ जाती है। शीघ्र ही खून की उल्टी होती है तथा उसके पश्चात् मृत्यु हो जाती है। इतनी अधिक खतरनाक व घातक होती है यह 'पीत वर्षा'।

अनुमान है कि पाकिस्तान भी रासायनिक युद्ध कर्मकों को प्राप्त करके इनका भण्डार बना रहा है। यह भी अनुमान है कि पाकिस्तानी सेनायें अमेरिका के फोर्ट डेट्रिक नामक स्थान पर रासायनिक युद्ध का प्रशिक्षण प्राप्त कर रही हैं। परन्तु इनको किस समय व किस प्रकार प्रयुक्त किया जायेगा, इस विषय में केवल अटकलें ही लगायी जा सकती हैं। एक सम्भावना यह है कि

उन्हें बमों के साथ ही उनकी आड़ में प्रयुक्त किया जायेगा जिससे दूसरी सेना को इनका पूर्वाभास न हो तथा वे इनसे सुरक्षा के उपाय (जैसे गैस मास्क अथवा रक्षक सूट आदि का पहिनना) न कर पाएं ।

मानव-जीवन पर रासायनिक युद्ध कर्मकों के प्रभाव की लम्बी व असह्य पीड़ा को देखते हुए मानवता में विश्वास रखने वाला कौन यह नहीं कहेगा कि इन पर कठोर प्रतिबन्ध लगाना नितान्त आवश्यक है ।

अन्त में रसायनों की एक अन्य श्रेणी की चर्चा करना भी यहाँ उचित होगा जो युद्ध में शत्रु सैनिकों को सीधे हानि नहीं पहुँचाते किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से आक्रमणकारी सेना को बहुत सहायता प्रदान करते हैं। ये रसायन जंगलों में लड़े जाने वाले युद्ध में विशेषतः उपयोगी सिद्ध हुए हैं । रसायनों की इस श्रेणी को निष्पत्र कहा जाता है । विएतनाम युद्ध में इनका प्रयोग बहुत किया गया था । ये अकार्बनिक व कार्बनिक रसायन होते हैं जो वृक्षों पर से पत्तियों व छोटी शाखाओं का सफाया कर देते हैं । इससे बम वर्षा के दौरान न तो सैनिक छिप सकते हैं और न हो छिपकर घात लगा सकते हैं । कैल्शियम साइनेमाइड तथा मैग्नेशियम परक्लोरेट दो प्रमुख निष्पत्रक हैं ।

स्पष्ट है कि युद्ध में प्रयुक्त किये जाने वाला रसायन चाहे निष्पत्र जैसा कम हानिकारक हो या VX जैसा घातक, है यह पूर्णतया अमानवीय । शायद आज का मानव एक दूसरे की जान लेने में ही विश्वास रखता है अन्यथा रासायनिक युद्धकर्मकों की एक श्रेणी और भो है जिसे वह प्रयुक्त करना नहीं चाहता । यह श्रेणी उन रसायनों को है जिन्हें 'अयोग्यता कर्मकों' के नाम से जाना जाता है । इन रसायनों से कुछ समय के लिये व्यक्ति कार्य करने के अयोग्य हो जाता है । ये रसायन मस्तिष्क को प्रभावित कर सैनिकों में मानसिक शिथिलता उत्पन्न कर देते हैं । ऐसे भी रसायन हैं जिनसे कि शत्रु-सैनिकों को कुछ निश्चित समय के लिये मूर्छित किया जा सकता है ताकि उस दौरान इनके ठिकानों पर कब्जा आदि किया जा सके । इस प्रकार के रसायनों के प्रयोग से की गई सैनिक कार्यवाही अनोखी अवश्य होगी, पर होगी पूर्णतया मानवीय ।

गुरुकुल संग्रहालय में सुरक्षित गुप्तकालीन महत्वपूर्ण मृण्मूर्तियां

सुखवीरसिंह
(सहा० क्यूरेटर)

किसी भी सभ्यता की स्थाई सफलताओं की संरक्षिका कला ही रही है। सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था, धर्म के रूप और साम्राज्य सभी बदल जाते हैं, पर कला में हम उस सभ्यता की अमूल्य निधियों का संचय और सांस्कृतिक तत्त्व पाते हैं। कला मानव-जीवन के विशिष्ट भावों और समकालीन सामाजिक वातावरण को प्रकाश में लाती है और उनके अभिप्राय के अर्थ को समझाती है। कला हृदय और चक्षु दोनों को आकर्षित करती है। विद्या और कला के विषय में शुक्राचार्य ने कहा है कि वाणी के द्वारा जो व्यक्त होती है वही विद्या है और गूँगा भी जिसे व्यक्त कर सकता है वह कला है। कला मनोमय जगत् और भूतमय जगत् के मध्य में एक सेतु है। इस पुल पर चढ़कर हम जान सकते हैं कि मनुष्यों ने राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में एक ओर कितना सोचा था और दूसरी ओर कितना निर्माण किया था।

भारतीय कला के माध्यमों में मृण्कला का श्रेष्ठ स्थान रहा है। सभी युगों में मृण्मूर्तियाँ बनती रही हैं किन्तु गुप्त-काल में यह कला मानों अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गई थी। यह काल कला की दृष्टि से स्वर्ण काल माना जाता है। इस स्वर्ण युग में भारतीय कलाओं ने गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। गुप्तकालीन कलाकारों ने कुषाण काल के शारीरिक सौन्दर्य को ही नहीं अपनाया, वरन् स्थूल सौन्दर्य और भाव सौन्दर्य का सुन्दर योग भी स्थापित किया। इस काल में विवस्त्र या नग्न चित्रण को कोई स्थान नहीं है, जबकि कुषाण कला की वह एक अपनी विशेषता थी।

गुप्तों के समय कला को एक नया मोड़ मिला और साथ ही साथ अब भाव सौन्दर्य की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। इस समय मूर्तियों में अपनी पूर्ववर्ती मूर्तियों की अपेक्षा माधुर्य, ओज और सजीवता में कहीं उत्कृष्ट हैं। सौन्दर्य के मापदण्ड का यह परिवतन तत्कालीन जीवन के सभी क्षेत्रों में

झलकता हुआ दिखलाई पड़ता है। डा० कुमार स्वामी के शब्दों में गुप्त-काल की कला जो मथुरा की कुषाण कला से उद्भूत है, स्वतः एकरूप एवम् स्वाभाविक है।

इस काल में मथुरा, कौशाम्बी, अहिच्छत्रा, बक्सर, पटना, चन्द्रकेतुगढ़, तामलुक, राजाघाट, पहाड़पुर, भीतरगांव, अक्खनूर, मीरपुरखास, रंगमहल, झूसी आदि मृण्कला के प्रमुख केन्द्र थे । इन स्थानों से विविध शैली तथा विविध विषयक मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। कला और सौन्दर्य का सन्देश मृण्मूर्तियों के माध्यम से जनता में प्रचारित किया गया, क्योंकि खिलौने मूल्य में बहुत सस्ते और अधिक संख्या में शीघ्रता से तैयार किये जा सकते थे। धार्मिक आवश्यकता और मनोरंजन दोनों की पूर्ति उनसे होती थी । छोटी मूर्तियों के अतिरिक्त मिट्टी के बड़े फलक भी मन्दिरों और घरों में लगाने की प्रथा प्रारम्भ हो गई थी जिनमें भाँति-भाँति के धार्मिक और सामाजिक दृश्य ढाले जाते थे। कभी-कभी कायपरिमाण की मृण्मूर्तियाँ बनाई जाती थी, जैसे अहिच्छत्रा से प्राप्त मकरवाहिनी गंगा और कच्छपवाहिनी यमुना की मूर्तियाँ, जो इस समय राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में सुरक्षित हैं।

मिट्टी के बड़े फलक और मूर्तियाँ पाषाण शिल्प के समान काम में लाई जाती थीं। गुप्तकाल के कितने ही मन्दिर नीचे से ऊपर तक अलंकृत ईंटों और मृण्मय फलक-पंक्तियों से निर्मित किये गये थे। उनमें से कुछ अभी तक सुरक्षित हैं जैसे कानपुर जिले में भीतरगांव का मन्दिर कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस काल की सबसे सुन्दर मृण्मूर्तियाँ अहिच्छत्रा में बनीं । सम्भवतः इन्हीं को देखकर रायकृष्णदास जैसे कला-समीक्षक को यह लिखना पड़ा कि—"गुप्त-काल में बड़ी-बड़ी मृण्मूर्तियाँ और पकाई मिट्टी के फलक भी बनते थे, जिनका सौन्दर्य और सजीवता पत्थर या धातु की मूर्तियों से भी इक्कीस है।"

वर्गीकरण की दृष्टिसे गुप्तकालीन मृण्मय मूर्तियाँ तीन प्रकार की हैं—
१-धार्मिक—ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देव-देवियों की मूर्तियाँ जैसे विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा, शिव, कार्तिकेय, पार्वती, गणेश, महिषासुरमर्दिनी, गंगा, यमुना आदि। २--स्त्री और पुरुष मूर्तियाँ, जो साँचों से बनी हैं। उनकी शैली गुप्तकालीन उत्कृष्ट कला का नमूना है। इनका सौन्दर्ययुक्त मुख, तीखे नाक-नक्श, बड़ी-बड़ी आँखे, कानों में कुण्डल, कर्णफूल, गले में नाभि तक लटकती हुई माला, मुक्ताहार दिखाई पड़ता है। किसी-किसो स्त्री के सिर पर मुकुट और उषणीश भी मिलता है। ये आभूषण प्राचीन काल की रमणियाँ बड़े चाव से पहनती थीं । इन मूर्तियों का गोल चेहरा, गोल-गोल बांहें, माँसपेशियों का अभाव, ओठों पर रहस्यमयी मुस्कान, ऊपर का ओंठ निचले ओंठ पर इषत् गड़ा हुआ दिखाई पड़ता है।

इस काल की मूर्तियों में केश-विन्यास सादृश्य है, जैसे अलकावली, जिसमें बीच की केश-बीथी के दोनों ओर छल्लेदार लटें पंक्तिबद्ध रूप से संवारी हुई दिखाई पड़ती हैं। अलकावली को कालिदास ने स्त्री-सौन्दर्य का सुन्दर लक्षण कहा है। पुरुष-मस्तकों में भी केश-रचना अलकावली के रूप में दिखाई गई है जो मस्तक के दोनों ओर बड़े भव्य रूप में सज्जित है। मार्शल का कहना है कि जो पुरुष इस प्रकार अपने केशों को सजाते थे, वे बहुत ही छैल रहे होंगे। केश रचना की दूसरी शैली मोर के फैलाए हुए पंखों जैसी थो जिसे साहित्य में लीलामयूर बर्हभंगी केशपाश कहा है। बीच को मांग के दोनों ओर फैले हुए केश इसको विशेषता है। केश रचना को तीसरी शैली मधुमक्षिका के छत्ते जैसी है। इसमें मांग के दोनों ओर केशों को क्षौद-पटल या छत्तों के आकार में सजाया जाता था। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के कथनानुसार रोम देश की कुलीन स्त्रियाँ भी केश रचना को इस शैली को पसन्द करती थीं। इस प्रकार इस केश-विधि ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली थी।

गुप्तकालीन पार्थिव मूर्तियों का तोसरा वर्ग उस प्रकार के फलक हैं जो वस्तु-शिल्प में प्रयुक्त होते थे। इनमें पौराणिक आख्यानों और अलंकरण के विषय हैं। राजघाट से प्राप्त पार्थिव मूर्तियाँ गुप्त कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं जो भारत कला भवन में सुरक्षित हैं।

निःसन्देह गुप्तकाल में मृण्कला अपने विकास के चर्मोत्कर्ष पर पहुंच गई थी। अतः भारतीय कला में गुप्तकालीन मृण्कला अपना विशेष स्थान रखती है।

दम्पत्ति—गुरुकुल संग्रहालय नं० २२१/१३ (१५.५×१४.५×५ से०मी०)कौशाम्बी से प्राप्त यह प्रतिमा पाँचवी शती ई० की है। यह गेहुँए रंग की मिट्टी से निर्मित है। इस प्रतिमा में स्त्री-पुरुष दाम्पत्य भाव में बैठे हुए हैं। पुरुष का शिरोभाग खण्डित है। यह धोती पहिने हुए है। धोती शरीर से चिपके हुए दिखलाई पड़ती है। बांया हाथ स्त्रो को पीठ पर रखे हुए है। स्त्री कानों में बड़े कुण्डल, गले में कंठहार, सिर पर जूड़ा और हाथों में कड़े पहने हुए है। स्त्री धोती पहने हुए है और कटिप्रदेश पर मेखला बांधे हुए है। यह कटिप्रदेश पर धोती के ऊपर बंधी हुई है। स्त्री, पुरुष की वाम जंघा पर अपने दांये पैर का घुटना रखे हुए है।

इस प्रतिमा में पुरुष अपने बांये हाथ से स्त्री का आलिंगन कर रहा है और स्त्री, पुरुष की वाम जंघा पर अपने दांये पैर का घुटना रखे हुये है। इससे स्पष्ट है कि इस प्रतिमा में प्रेमासक्ति का भाव है। इसमें सौन्दर्य, रूपसज्जा

और दाम्पत्य भाव स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है, प्रतिमा कुछ खण्डित है। इसके लामच्छन भी कुछ स्पष्ट नहीं हैं, फिर भी प्रतिमा की शैली से स्पष्ट है कि स्त्री-पुरुष दाम्पत्य भाव में बैठे हुए हैं।

स्त्री का शिरो भाग—गुरुकुल संग्रहालय नं० २२७/१६ (१८×१५×१३ से०मी०) कौशाम्बी से प्राप्त यह प्रतिमा चौथी-पाँचवी शती ई० की है। यह लाल रंग की मिट्टी से निर्मित है। स्त्री का गोल चेहरा, ओठों पर मुस्कान, बड़ी आँखे, कलापूर्ण ढंग से केशों की सीधी मांग मस्तक के पीछे की ओर भव्य रूप में सज्जित है। स्त्री कानों में बड़े कुण्डल धारण किये हुये है। इसके कपोल कुछ चिकने, ओंठ मोटे दिखलाई पड़ते हैं। स्त्री के शिरो भाग के चारों ओर गोल अलंकृत चौड़ी पट्टी का घेरा बना है। यह सौन्दर्य और रूप-सज्जा की दृष्टि से बहुत ही कलापूर्ण है।

इस प्रतिमा में सौन्दर्य और रूप-सज्जा स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। गुप्तकाल में केश-सज्जा, वस्त्र-भूषण और धर्म तथा समाज के विभिन्न पहलुओं को प्रतिबिम्बित करती हुई यह कृति, कला और इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

स्त्री का शिरो भाग—गुरुकुल संग्रहालय नं० १३३२/२६७ (७×४.५×३ ५ से० मी०) कौशाम्बी से प्राप्त यह प्रतिमा पांचवी-छठी शती ई० की है। यह गेहुँए रंग की मिट्टी से निर्मित है। कला-दृष्टि से यह प्रतिमा बहुत ही महत्वपूर्ण है। स्त्री कलापूर्ण ढंग से केश विन्यास किये हुये है। मस्तक के दोनों ओर केशों को सीधी मांग द्वारा संवार कर जूड़ा बनाया गया है और सिर पर ओढ़नी दिखलाई गई है। इसके केश पूर्णतः ढके नहीं हैं बल्कि आगे केश विन्यास का कुछ भाग मस्तक के दोनों ओर दिखाई दे रहा है। इसका गोल चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखे, कपोल कुछ चिकने, कानों में कर्णफूल और ओठों पर रहस्यमयी मुस्कान है।

यह प्रतिमा सौन्दर्य और रूप-सज्जा की दृष्टि से बहुत कलापूर्ण है। रंगों की पुताई इसकी सुन्दरता को और बढ़ा रही है।

आवक्ष, पुरुष प्रतिमा—गुरुकुल संग्रहालय नं० २४३/३५ (८×५.५×२ से०मी०) मथुरा से प्राप्त यह प्रतिमा पाँचवी शती ई० की है। यह गेहुँए रंग की मिट्टी से निर्मित है। इस प्रतिमा में पुरुष कलापूर्ण ढंग से केश विन्यास किये हुए है, केशों की रचना अलकावली के रूप में दिखलाई गई है जो मस्तक के दोनों ओर पंक्ति रूप से कन्धों पर लहराते हुये भव्य रूप में सज्जित है। पुरुष का गोल चेहरा, ओठों पर रहस्यमयी मुस्कान, आँखे बड़ी, मांसपेशियों का अभाव और कानों में

कुण्डल हैं। प्रतिमा में ऊपर की ओर एक छिद्र है जिससे प्रतिमा को दीवार पर टाँगने के लिये इसका उपयोग किया जाता था।

इस प्रतिमा में सौन्दर्य और रूप-सज्जा की भावना स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है। यह प्रतिमा कला की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। संग्रहालय में इस प्रतिमा के समान ही कौशाम्बी से प्राप्त गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ नं० ३६८/१३३ और नं० १४३४/३१६ पर अंकित एवम् प्रदर्शित हैं।

स्त्री का शिरो भाग—गुरुकुल संग्रहालय नं० ३०७७/३७० (५.५×५×२.५ से० मी० विदिशा से प्राप्त यह प्रतिमा पांचवी शती ई० की है। यह गेहुँए रंग की मिट्टी से निर्मित है। स्त्री कलापूर्ण ढंग से केश विन्यास किये हुए है। यह मस्तक के दोनों ओर के केशों को सीधी मांग द्वारा और इनको लहरियेदार बनाकर संवारे गये हैं। शिरो भाग के बीच में केशों का जूड़ा है जो सम्भवतः मोतियों की लड़ियों द्वारा सज्जित है। स्त्री का मस्तक केशों के साथ दोहरी मोतियों की लड़ियों द्वारा सुशोभित है। इसका गोल चेहरा, नाक सीधी और ओठों पर रहस्यमयी मुस्कान है। प्रतिमा में मुख का नीचे का ओंठ कुछ मोटा है।

इस प्रतिमा में ऊपर की ओर एक छिद्र बना हुआ है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि दीवारों पर टांगने के लिये इसका उपयोग किया जाता था। इस में सौन्दर्य और रूप-सज्जा की भावना स्पष्ट रूप से दिखलाई देती है। इसकी शैली गुप्तकालीन कला का उत्कृष्ट नमूना है।

स्त्री का शिरो भाग—गुरुकुल संग्रहालय नं०३५३३/४०३ (७.५×४.५×३ से० मी०) शाहबाद (आगनखेड़ा–हरदोई) से प्राप्त यह प्रतिमा पांचवी-छठी शती ई० की है। यह गेहुँए रंग की मिट्टी से निर्मित है। स्त्री कलापूर्ण ढंग से केश विन्यास किये हुये है। मस्तक के दोनों ओर केश लहरियेदार, लटें संवारी हुई हैं जो कन्धों पर लहराते हुए भव्य रूप में सज्जित हैं। स्त्री का गोल चेहरा, उन्मीलित आंखे और कानों में कुण्डल हैं। स्त्री के मुख को देखने से स्पष्ट होता है कि इसका नीचे का ओंठ कुछ मोटा है।

कला-दृष्टि से यह प्रतिमा महत्वपूर्ण है। इसके केश-विन्यास तथा सौन्दर्य-युक्त मुख, कला और इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

—०-

उपाध्याय का स्वरूप

आचार्य वेदप्रकाश शास्त्री
संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

उपाध्याय शब्द श्रूयमाण होता हुआ किसी भव्य एवं दिव्य व्यक्तित्व की ओर इंगित करता हुआ, मानव परम्परा में परिगणनीय शब्द-शृंखला में अपना विशिष्ट स्थान रखता हुआ, विद्वत् समुदाय के मानस-सरोवर में विविध तरङ्ग-रिङ्गण के साथ क्रीडा में तत्पर, हंस सदृश शोभमान होता रहा है। यद्यपि उपाध्याय शब्द किसी वृत्तिविशेष की ओर ध्यान आकृष्ट करता है किन्तु वह वृत्ति ब्राह्मण वर्ण की व्यापक एवं शाश्वत ज्ञान वृत्ति का एक उज्ज्वल अंश है जो कि ब्राह्मणों के एक विशिष्ट वर्ग के लिये रूढ़ होकर संसार में कीर्तिमान हो गया है। प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्राह्मण के साथ उपाध्याय शब्द का विनियोजन कब और कैसे सम्भव हुआ ? क्योंकि दो प्रकार के शब्द व्यूह दृष्टि में आते हैं। प्रथम शब्द व्यूह वैदिक शब्दों का है तथा द्वितीय शब्द व्यूह लौकिक शब्दों का है। वैदिक शब्द वेदों में हैं जिनका कर्ता स्वयं परमात्मा है, लौकिक शब्द लोक-निर्मित हैं जिनके कर्ता ऋषि, मुनि, देव, विद्वान आदि हैं। यद्यपि यह सत्य है कि लौकिक शब्दों का मूल भी बीज-रूप में कहीं न कहीं वेदों में अवश्य द्रष्टव्य है, क्योंकि समग्र शब्द सृष्टि का मूल वेद को ही स्वीकार किया गया है। मनु महाराज ने मनु-स्मृति में स्पष्ट रूप से वेदों के महत्त्व को स्वीकार करते हुये उद्घोष किया है कि—

सर्वेषां तुसनामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ मनु/१/२१

शब्दार्थ के सत्यस्वरूप का दर्शन करने वाले, भारती के समुपासकवृन्द से वन्दनीय ऋषिवर वेदव्यास जी महाराज ने भी जगत् प्रपञ्च की समस्त प्रवृत्तियों का मूल वेदों को ही स्वीकार किया है। जैसे—

अनादि निधनानित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी विव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ महा०भा०शांति/२३२/२४

इस प्रकार सभी मनीषियों ने वेद में ही समस्त सद्वृत्तियों का दर्शन करते हुए सांसारिक जन-समूह के कल्याणार्थ विविध प्रकार से उपदेश प्रक्रिया को संजीवन दिया। उपाध्याय की मौलिक प्रवृत्तियों का वर्णन भी हमें वेद में प्राप्त होता है। यद्यपि वेद मन्त्रों में कहीं भी उपाध्याय शब्द का प्रयोग तो नहीं हुआ है किन्तु जो वर्णन उपलब्ध है उसके अनुसार प्रयुक्त विशेषण उपाध्याय की वृत्ति की ओर ही इंगित करते हैं। वेदों के प्रख्यात विद्वान श्री दामोदर जी सातवलेकर ने दैवत संहिता में एक मन्त्र का उपाध्याय देवता के सम्बन्ध में उल्लेख किया है। उस मन्त्र का देवता—विश्वामित्रोपाध्याय है। इससे प्रतीत होता है कि मन्त्र उपाध्याय को समस्त प्रवृत्तियों का परिचायक है। मन्त्र इस प्रकार है—

शतधारमुत्समक्षीयमाणं विपश्चितं पितरं वक्त्वानाम्।
मेलिं मदन्तं पित्रोरुपस्थे तं रोदसी पिपृतं सत्यवाचम्॥ऋ.३/२६/९

प्रस्तुत मन्त्र में प्रयुक्त विशेषण परम्परा उपाध्याय की वाग्वृत्ति की सतत प्रगतिमयता की स्पष्टतया द्योतन कर रही है। उपाध्याय का शतधार रूप— मन्त्र में उपाध्याय के लिये शतधार शब्द का प्रयोग किया गया है। शतधार शब्द उपाध्याय की अद्भुत वाग्मिता की ओर संकेत कर रहा है, क्योंकि यास्काचार्य ने धारा शब्द का प्रयोग निघण्टु के अन्दर वाग् रूप में प्रस्तुत किया है। (धारा इति वाङ्नामसुपठितम्) इस प्रकार शतधार का अर्थ "शतधा धारा सुशिक्षिता वाग् यस्यासौ शतधारः" किया जा सकता है। वस्तुतः उपाध्याय किसी एक तथ्य का प्रकटन अनेकधा करता हुआ शतधार ही होता है। उपाध्याय के समक्ष सहस्रों की संख्या में बैठा हुआ छात्रसमुदाय जब उसकी वाणी का श्रवण करता है तो उस समय एक काल में अविच्छिन्न रूप में एकरूपा वाक् रश्मि का विकिरण वह अनेकधा ही करता है। जिस प्रकार व्योमस्थ मेघ सहस्र धाराओं के साथ पृथिवी पर वर्षण करता है, वही स्वरूप उपाध्याय का भी है। पुनश्च यह ज्ञातव्य है कि उपाध्याय के समक्ष जिज्ञासु शिष्य-मण्डल बौद्धिक दृष्टि से समान क्षमता का नहीं है, अतः कुशाग्र बुद्धि जिस निदर्शन से वस्तुतत्व का अवगम करता है, मन्द बुद्धि के लिये भिन्न निदर्शन के माध्यम से ही पदार्थ का बोध कराना उपाध्याय का परम कर्त्तव्य है। यह तभी सम्भव है जब कि उपाध्याय का बौद्धिक अभ्युदय शतधार की स्थिति को प्राप्त कर चुका हो। साङ्गोपाङ्ग शास्त्रों का ज्ञाता, शास्त्रानुशीलन में तत्पर तथा सहज प्रतिभा का धनी उपाध्याय ही शतधार की संज्ञा को प्राप्त कर सकता है।

अक्षीयमाण उत्स के रूप में उपाध्याय—उपाध्याय को अक्षीयमाण उत्स अर्थात् कभी भी क्षीण न होने वाले कूप के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कूप

की विशेषता यही होती है कि वह इधर-उधर से आकर संचित जल का दाता नहीं होता है अपितु वह स्वतः स्रवणशील स्रोतों से निःसृत जल को प्रतिक्षण नव-नव रूप में स्वादु पेय बनाता हुआ जन-जन की जलाभिलाषा को पूर्ण करता है। उसी प्रकार उपाध्याय भी वह ज्ञानकूप है कि जिसके समीप आकर कोटिशः पुरुष प्रायशः ज्ञानपिपासु होकर अपनी तृषा को शांत करते हैं। कूप की सार्थकता इसी में है कि निरन्तर उसमें से जल निकलता रहे। उपाध्याय की सार्थकता इसी में है कि उसका ज्ञान-जल सतत् रूप में निःसृत होता रहे, क्योंकि ज्ञान कूप की अक्षयता इसी में निहित है। उपाध्याय का चिन्तन सहज होता है तथा उसमें सातत्य रहता है। यह चिन्तन सातत्य ही उसके अक्षीयमाण रूप का हेतु है। सातत्य के अभाव में पूर्वाजित ज्ञानजल के कारण उपाध्याय का कूप-रूप तो रह सकता है परन्तु उसकी अक्षीयमाणता क्षण-क्षण में क्षीण होती रहती है। सम्भवतः इसीलिये कहा गया है—

अपूर्वः कोऽपि कोषोऽयं दृश्यते तव भारती ।
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति सञ्चयात् ॥

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा उत्स शब्दार्थ इस प्रकार किया गया है "उन्दन्ति येन तं कूपम्, उत्समिति कूप नाम् निरु० ३/२३। कूपमिव जलेन क्लिन्नम्, कूप इव तृप्तिकरः,उन्दन्ति यस्मात् स कूप इव(पुरुषः)। अर्थात् कूप की क्लिन्नता यहाँ स्नेह का द्योतन करती है। स्नेह तृप्तिकर स्वयमेव होता है अतः उपाध्याय ज्ञान कोष होते हुए स्नेह की जीवित मूर्ति के रूप में भी स्वयं को प्रस्तुत करे। कूप शब्द से उपाध्याय की स्वस्थानाधिष्ठातृता निश्चय ही अभि-व्यञ्चित हो रही है। जिस प्रकार कूप एक स्थानस्थ रह कर आने वालों की जलदान द्वारा तृप्ति करता है उसी प्रकार उपाध्याय भी अपनी पीठ पर अधि-ष्ठित होता हुआ अक्षय ज्ञान निधि का निरन्तर वितरण करता रहता है। यदि उपाध्याय की व्युत्पत्ति करें तो इस प्रकार होगी "उपेत्यअधीयतेऽस्मादित्युपा-ध्यायः" अर्थात् जिसके समीप जाकर अध्ययन किया जाता है वह उपाध्याय संज्ञा को प्राप्त करता है। समग्र उपनिषत् साहित्य इस दृष्टि से औपाध्यायिक प्रवृत्ति का द्योतक है। यद्यपि अधुनातन जगत में चिन्तन परम्परा भिन्न है, अद्यतनीन विचार से तो"शिष्यमुपेत्य योऽध्यापयाति स उपाध्यायः"यह अर्थ किया जाता है, परन्तु यह अर्थ प्राक्काल में अभीष्ट नहीं था, क्योंकि सभी प्राचीन ग्रन्थों के शिक्षा प्रसंगों में शिक्षक को पूर्वारणि तथा शिष्य को उत्तरारणि के रूप में स्वीकृत किया गया है, पूर्वारणि के समीप उत्तरारणि को ही आना होता है। पूर्वारणि जहाँ उसका स्थान है वहीं प्रतिष्ठित रहती है। गुरुकुलों अथवा शिक्षण संस्थानों में आज भी विद्यार्थियों का प्रविष्ट होना इसका प्रमाण है। उपाध्याय की इस गौरवमयी स्थिति को ध्यान में रखते हुए आचार्य पाणिनी के "आख्यातो-

पयोगे" १/४/२६ सूत्र का उदाहरण नियमपूर्वक विद्यास्वीकरण में "उपाध्यायादधीते" दिया है जिससे शिष्य का शिक्षक के समीप गमन सिद्ध हो रहा है ।

उपाध्याय का विपश्चित् रूप—उपाध्याय को वैदुष्य से परिपूर्ण होना चाहिये । क्योंकि उसका प्रमुख कार्य अध्यापन है अतः विद्यार्थी की समस्त शंकाओं का निवारण करना उपाध्याय का प्रमुख कर्त्तव्य है । यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि उपाध्याय का विशद अध्ययन एवं मनन होगा । कोई भी विद्या चार प्रकार से फलवती मानी गयी है, अर्थात् अधीति, बोध, आचरण एवं प्रचारण के द्वारा विद्या का पूर्ण विकास होता है । यह विकास उपाध्यायश्रित ही स्वीकरणीय है तथा उक्त परम्परा के निर्वाहार्थ उपाध्याय का विद्वानों की श्रेणी को निजाभिख्या से अलंकृत करना परम कर्त्तव्य है ।

उपाध्याय वाणी का पिता है - उपाध्याय को "पितर वक्वानाम्" कह कर वाणी के पिता के रूप में स्वीकार किया गया है । स्वामी दयानन्द जी ने वक्वा के विद्वज्जन, वक्ता, भाषण वा उपदेश परम्परा आदि अनेक अर्थ किए हैं । इसी प्रकार पिता के भी पालक, जनक, विद्वान्, सूर्य, पालयिता वा अध्यापक आदि अनेक अर्थ किए हैं (वैदिक कोष) । इस प्रकार यह तो निश्चित ही है कि समस्त वाक् प्रसर उपाध्याय का निर्देशन प्राप्त करता हुआ ही गति में आता है । इसीलिए उपाध्याय को वाणी का पिता कहा गया है । यहाँ यह चिन्तना अवश्य करणोय है कि जिस प्रकार एक पिता अपनी पुत्री को गुणकर्मानुसार ही उसके योग्य पति को देता है, उसी प्रकार उपाध्याय का भी यह कर्त्तव्य है कि वह पात्र का गुण-कर्म एवं स्वभाव देखकर ही विद्या के विभिन्न रूपों का सूक्ष्म निरीक्षण करके प्रदान करे । इसके लिए उपाध्याय को मनोवैज्ञानिक होना चाहिये क्योंकि छात्र की मनःस्थिति का यथारूप जब तक स्पष्ट नहीं होगा तब तक प्रदत्त विद्या फलवती नहीं होगी । जब-जब उपाध्याय ने किसी भय अथवा प्रलोभनवश वाणी का असत्यपात्र में आधान किया है, तभी वाक् सरिता की पावनता कुछ मलीमस हुई है । अतएव निरुक्तकार ने इन पंक्तियों का उल्लेख कर दिया--

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, गोपाय माशेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ।।१।।

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ।।२।।

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ।।३।।

उपाध्याय का स्वरूप

आचार्य वेदप्रकाश शास्त्री
संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

उपाध्याय शब्द श्रूयमाण होता हुआ किसी भव्य एवं दिव्य व्यक्तित्व की ओर इंगित करता हुआ, मानव परम्परा में परिगणनीय शब्द-श्रृंखला में अपना विशिष्ट स्थान रखता हुआ, विद्वत् समुदाय के मानस-सरोवर में विविध तरङ्ग-रिङ्गण के साथ क्रीडा में तत्पर, हंस सदृश शोभमान होता रहा है। यद्यपि उपाध्याय शब्द किसी वृत्तिविशेष की ओर ध्यान आकृष्ट करता है किन्तु वह वृत्ति ब्राह्मण वर्ण की व्यापक एवं शाश्वत ज्ञान वृत्ति का एक उज्ज्वल अंश है जो कि ब्राह्मणों के एक विशिष्ट वर्ग के लिये रूढ़ होकर संसार में कीर्तिमान हो गया है। प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्राह्मण के साथ उपाध्याय शब्द का विनियोजन कब और कैसे सम्भव हुआ? क्योंकि दो प्रकार के शब्द व्यूह दृष्टि में आते हैं। प्रथम शब्द व्यूह वैदिक शब्दों का है तथा द्वितीय शब्द व्यूह लौकिक शब्दों का है। वैदिक शब्द वेदों में हैं जिनका कर्ता स्वयं परमात्मा है, लौकिक शब्द लोक-निर्मित हैं जिनके कर्ता ऋषि, मुनि, देव, विद्वान आदि हैं। यद्यपि यह सत्य है कि लौकिक शब्दों का मूल भी बीज-रूप में कहीं न कहीं वेदों में अवश्य द्रष्टव्य है, क्योकि समग्र शब्द सृष्टि का मूल वेद को ही स्वीकार किया गया है। मनु महाराज ने मनु-स्मृति में स्पष्ट रूप से वेदों के महत्त्व को स्वीकार करते हुये उद्घोष किया है कि—

सर्वेषां तुसनामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु/१/२१

शब्दार्थ के सत्यस्वरूप का दर्शन करने वाले, भारती के समुपासकवृन्द से वन्दनीय ऋषिवर वेदव्यास जी महाराज ने भी जगत् प्रपञ्च की समस्त प्रवृत्तियों का मूल वेदों को ही स्वीकार किया है। जैसे—

अनादि निधनानित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥ महा०भा०शांति/२३२/२४

इस प्रकार सभी मनीषियों ने वेद में ही समस्त सद्वृत्तियों का दर्शन करते हुए सांसारिक जन-समूह के कल्याणार्थ विविध प्रकार से उपदेश प्रक्रिया को संजीवन दिया। उपाध्याय की मौलिक प्रवृत्तियों का वर्णन भी हमें वेद में प्राप्त होता है। यद्यपि वेद मन्त्रों में कहीं भी उपाध्याय शब्द का प्रयोग तो नहीं हुआ है किन्तु जो वर्णन उपलब्ध है उसके अनुसार प्रयुक्त विशेषण उपाध्याय की वृत्ति की ओर ही इंगित करते हैं। वेदों के प्रख्यात विद्वान श्री दामोदर जी सातवलेकर ने दैवत संहिता में एक मन्त्र का उपाध्याय देवता के सम्बन्ध में उल्लेख किया है। उस मन्त्र का देवता—विश्वामित्रोपाध्याय है। इससे प्रतीत होता है कि मन्त्र उपाध्याय को समस्त प्रवृत्तियों का परिचायक है। मन्त्र इस प्रकार है—

शतधारमुत्समक्षीयमाणं विपश्चितं पितरं वक्त्वानाम्।
मेलिं मदन्तं पित्रोरुपस्थे तं रोदसी पिपृतं सत्यवाचम् ।।ऋ.३/२६/९

प्रस्तुत मन्त्र में प्रयुक्त विशेषण परम्परा उपाध्याय की वाग्वृत्ति की सतत प्रगतिमयता की स्पष्टतया द्योतन कर रही है। उपाध्याय का शतधार रूप—मन्त्र में उपाध्याय के लिये शतधार शब्द का प्रयोग किया गया है। शतधार शब्द उपाध्याय की अद्भुत वाग्मिता की ओर संकेत कर रहा है, क्योंकि यास्काचार्य ने धारा शब्द का प्रयोग निघण्टु के अन्दर वाग् रूप में प्रस्तुत किया है। (धारा इति वाङ्नामसुपठितम्) इस प्रकार शतधार का अर्थ "शतधा धारा सुशिक्षिता वाग् यस्यासौ शतधारः" किया जा सकता है। वस्तुतः उपाध्याय किसी एक तथ्य का प्रकटन अनेकधा करता हुआ शतधार ही होता है। उपाध्याय के समक्ष सहस्रों की संख्या में बैठा हुआ छात्रसमुदाय जब उसको वाणी का श्रवण करता है तो उस समय एक काल में अविच्छिन्न रूप में एकरूपा वाक् रश्मि का विकिरण वह अनेकधा ही करता है। जिस प्रकार व्योमस्थ मेघ सहस्र धाराओं के साथ पृथिवी पर वर्षण करता है, वही स्वरूप उपाध्याय का भी है। पुनश्च यह ज्ञातव्य है कि उपाध्याय के समक्ष जिज्ञासु शिष्य-मण्डल बौद्धिक दृष्टि से समान क्षमता का नहीं है, अतः कुशाग्र बुद्धि जिस निदर्शन से वस्तुतत्व का अवगम करता है, मन्द बुद्धि के लिये भिन्न निदर्शन के माध्यम से ही पदार्थ का बोध कराना उपाध्याय का परम कर्त्तव्य है। यह तभी सम्भव है जब कि उपाध्याय का बौद्धिक अभ्युदय शतधार की स्थिति को प्राप्त कर चुका हो। साङ्गोपाङ्ग शास्त्रों का ज्ञाता, शास्त्रानुशीलन में तत्पर तथा सहज प्रतिभा का धनी उपाध्याय ही शतधार की संज्ञा को प्राप्त कर सकता है।

अक्षीयमाण उत्स के रूप में उपाध्याय—उपाध्याय को अक्षीयमाण उत्स अर्थात् कभी भी क्षीण न होने वाले कूप के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कूप

की विशेषता यही होती है कि वह इधर-उधर से आकर संचित जल का दाता नहीं होता है अपितु वह स्वतः स्रवणशील स्रोतों से निःसृत जल को प्रतिक्षण नव-नव रूप में स्वादु पेय बनाता हुआ जन-जन की जलाभिलाषा को पूर्ण करता है। उसी प्रकार उपाध्याय भी वह ज्ञानकूप है कि जिसके समीप आकर कोटिशः पुरुष प्रायशः ज्ञानपिपासु होकर अपनी तृषा को शांत करते हैं। कूप की सार्थकता इसी में है कि निरन्तर उसमें से जल निकलता रहे। उपाध्याय की सार्थकता इसी में है कि उसका ज्ञान-जल सतत् रूप में निःसृत होता रहे, क्योंकि ज्ञान कूप की अक्षयता इसी में निहित है। उपाध्याय का चिन्तन सहज होता है तथा उसमें सातत्य रहता है। यह चिन्तन सातत्य ही उसके अक्षीयमाण रूप का हेतु है। सातत्य के अभाव में पूर्वार्जित ज्ञानजल के कारण उपाध्याय का कूप-रूप तो रह सकता है परन्तु उसकी अक्षीयमाणता क्षण-क्षण में क्षीण होती रहती है। सम्भवतः इसीलिये कहा गया है—

अपूर्वः कोऽपि कोषोज्यं दृश्यते तव भारती ।
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति सञ्चयात् ॥

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा उत्स शब्दार्थ इस प्रकार किया गया है "उन्दन्ति येन तं कूपम्, उत्समिति कूप नाम् निरु० ३/२३। कूपमिव जलेन क्लिन्नम्, कूप इव तृप्तिकरः,उन्दन्ति यस्मात् स कूप इव(पुरुषः)। अर्थात् कूप की क्लिन्नता यहाँ स्नेह का द्योतन करती है। स्नेह तृप्तिकर स्वयमेव होता है अतः उपाध्याय ज्ञान कोष होते हुए स्नेह की जीवित मूर्ति के रूप में भी स्वयं को प्रस्तुत करे। कूप शब्द से उपाध्याय की स्वस्थानाधिष्ठातृता निश्चय ही अभिव्यञ्चित हो रही है। जिस प्रकार कूप एक स्थानस्थ रह कर आने वालों की जलदान द्वारा तृप्ति करता है उसी प्रकार उपाध्याय भी अपनी पीठ पर अधिष्ठित होता हुआ अक्षय ज्ञान निधि का निरन्तर वितरण करता रहता है। यदि उपाध्याय की व्युत्पत्ति करें तो इस प्रकार होगी "उपेत्यअधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायः" अर्थात् जिसके समीप जाकर अध्ययन किया जाता है वह उपाध्याय संज्ञा को प्राप्त करता है। समग्र उपनिषत् साहित्य इस दृष्टि से औपाध्यायिक प्रवृत्ति का द्योतक है। यद्यपि अधुनातन जगत में चिन्तन परम्परा भिन्न है, अद्यतनीन विचार से तो "शिष्यमुपेत्य योऽध्यापयाति स उपाध्यायः" यह अर्थ किया जाता है, परन्तु यह अर्थ प्राक्काल में अभीष्ट नहीं था, क्योंकि सभी प्राचीन ग्रन्थों के शिक्षा प्रसंगों में शिक्षक को पूर्वारणि तथा शिष्य को उत्तरारणि के रूप में स्वीकृत किया गया है, पूर्वारणि के समीप उत्तरारणि को ही आना होता है। पूर्वारणि जहाँ उसका स्थान है वहीं प्रतिष्ठित रहती है। गुरुकुलों अथवा शिक्षण संस्थानों में आज भी विद्यार्थियों का प्रविष्ट होना इसका प्रमाण है। उपाध्याय की इस गौरवमयी स्थिति को ध्यान में रखते हुए आचार्य पाणिनी के "आख्याती-

पयोगे" १/४/२९ सूत्र का उदाहरण नियमपूर्वक विद्यास्वीकरण में "उपाध्यायादधीते" दिया है जिससे शिष्य का शिक्षक के समीप गमन सिद्ध हो रहा है।

उपाध्याय का विपश्चित् रूप—उपाध्याय को वैदुष्य से परिपूर्ण होना चाहिये। क्योंकि उसका प्रमुख कार्य अध्यापन है अतः विद्यार्थी की समस्त शंकाओं का निवारण करना उपाध्याय का प्रमुख कर्त्तव्य है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि उपाध्याय का विशद अध्ययन एवं मनन होगा। कोई भी विद्या चार प्रकार से फलवती मानी गयी है, अर्थात् अधीति, बोध, आचरण एवं प्रचारण के द्वारा विद्या का पूर्ण विकास होता है। यह विकास उपाध्यायश्रित ही स्वीकरणीय है तथा उक्त परम्परा के निर्वाहार्थ उपाध्याय का विद्वानों की श्रेणी को निजाभिख्या से अलंकृत करना परम कर्त्तव्य है।

उपाध्याय वाणी का पिता है - उपाध्याय को "पितर वक्वानाम्" कह कर वाणी के पिता के रूप में स्वीकार किया गया है। स्वामी दयानन्द जी ने वक्वा के विद्वज्जन, वक्ता, भाषण वा उपदेश परम्परा आदि अनेक अर्थ किए हैं। इसी प्रकार पिता के भी पालक, जनक, विद्वान्, सूर्य, पालयिता वा अध्यापक आदि अनेक अर्थ किए हैं (वैदिक कोष)। इस प्रकार यह तो निश्चित ही है कि समस्त वाक् प्रसर उपाध्याय का निर्देशन प्राप्त करता हुआ ही गति में आता है। इसीलिए उपाध्याय को वाणी का पिता कहा गया है। यहाँ यह चिन्तना अवश्य करणीय है कि जिस प्रकार एक पिता अपनी पुत्री को गुणकर्मानुसार ही उसके योग्य पति को देता है, उसी प्रकार उपाध्याय का भी यह कर्त्तव्य है कि वह पात्र का गुण-कर्म एवं स्वभाव देखकर ही विद्या के विभिन्न रूपों का सूक्ष्म निरीक्षण करके प्रदान करे। इसके लिए उपाध्याय को मनोवैज्ञानिक होना चाहिये क्योंकि छात्र की मनःस्थिति का यथारूप जब तक स्पष्ट नही होगा तब तक प्रदत्त विद्या फलवती नहीं होगी। जब-जब उपाध्याय ने किसी भय अथवा प्रलोभनवश वाणी का असत्यपात्र में आधान किया है, तभी वाक् सरिता की पावनता कुछ मलीमस हुई है। अतएव निरुक्तकार ने इन पंक्तियों का उल्लेख कर दिया--

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, गोपाय माशेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥१॥

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ॥२॥

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥३॥

यमेव विद्या शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ।।४।।
निरुक्त अ० २ ।

वाणी का पिता कहलाने का अधिकारी उपाध्याय तभी है जब कि वह वाणी की आवाज को सुनता है। जिस प्रकार लोक में नपुंसक को दी गई कन्या पुत्रवती नहीं होती है उसी प्रकार अपात्र प्रदत्त विद्या फलवती नहीं होती है । यहाँ एक शंका हो सकती है कि विद्या का क्षेत्र सभी के लिए है फिर पात्र-अपात्र का प्रश्न कैसा ? वास्तविकता यह है कि अपात्र से अभिप्राय यह नहीं है कि वह सर्वथा अपात्र है अपितु उसकी बौद्धिक एवं चारित्रिक क्षमता के आधार पर यहाँ पात्र-अपात्र का भाव है। जिस समय छात्र की जितनो तथा रुचि के अनुसार जैसी बौद्धिक क्षमता है वही उसकी पात्रता है और उसी के अनुसार उसे विद्यादान होना चाहिये। यह कार्य कुशल उपाध्याय का है कि वह देखे कौन छात्र किस-किस योग्यता का है, उसको उस समय, उसी स्तर की विद्या का दान अपेक्षित है। अतएव ऐसे कुशल उपाध्याय को पितरं वक्वानम् कहा गया है।

उपाध्याय का सत्यवाक् रूप—उपाध्याय को सत्यवाक् होना प्रार्थित है, क्योंकि सत्यता के अभाव में उपाध्याय प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं कर सकता। यह सत्यवाक् होना उसके चारित्रिक पक्ष की ओर संकेत करता है। उपाध्याय का जहाँ विद्वान्,चिन्तक,गवेषक,कुशलवक्ता होना अपेक्षित है, वहीं उसका 'सत्यवाक्' होना भी अपेक्षित है। यहाँ सत्यवाक् का एक अभिप्राय यह भी है कि उपाध्याय सत्योपदेष्टा, आप्त पुरुषों के वाक्यों को ही अपनी वाणी का विषय बनाकर अध्ययन-अध्यापन में प्रवृत्त रहे।

इस प्रकार वेद-मन्त्र में हमें उपाध्याय का स्वरूप दृष्टिगत होता है। स्मृति-ग्रन्थों में भी उपाध्याय की प्रवृत्ति को वर्ण्य विषय बनाया गया है। मनुस्मृति में उपाध्याय के स्वरूप को उस अध्यापक के साथ समन्वित किया है जो जीविका हेतु अध्यापनादि में प्रवृत्त होता है, जैसे—

एक देशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ।। मनु० २/१४१

मनु जी ने वृत्ति हेतु अध्ययन एवं अध्यापन में रत ब्राह्मण को उपाध्याय की संज्ञा दी तथा उसको आचार्य की प्रतिष्ठा की अपेक्षा कम प्रतिष्ठा प्रदान की। मनु जी "उपाध्यायान्दश आचार्य" मनु० २/१४५ कह कर स्पष्टतया दश उपाध्यायों की अपेक्षा एक आचार्य को गुरुता प्रदान करते हैं। क्योंकि वृत्ति हेतु

उपाध्याय का जीवन एक वणिक् व्यक्ति के समान ही स्वीकार किया गया है। जैसे कि—"यस्यागमः केवलं जीविकायै तं ज्ञान पण्यं वणिजं वदन्ति" अर्थात् केवलमात्र धनार्जन के लिये शास्त्राभ्यास करने वाला ब्राह्मण एक व्यावसायिक का दृष्टिकोण अपना कर ही चलता है ।

याज्ञवल्क्य जी ने अपनी स्मृति में उपाध्याय के स्वरूप का वर्णन करते हुए मनु-स्मृति का पूर्णरूप से अनुकरण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि याज्ञवल्क्य के समक्ष समाज में व्यवहारिक रूप में मनु द्वारा निर्दिष्ट उपाध्याय का स्वरूप प्रचलित था अतएव उन्होंने भी -"एक देशमुपाध्यायः" या० स्मृति १/३५ कहकर संक्षेप में उपाध्याय का स्वरूप वर्णित किया है । यहाँ यह द्रष्टव्य है कि याज्ञवल्क्य यह तो स्वीकार करते हैं कि वेद के एक देश को पढ़ाने वाला उपाध्याय है किन्तु वह वृत्यर्थ पढ़ाता है इसीलिए उपाध्याय है, इसका कोई निर्देश स्पष्टतया नहीं किया है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी उपाध्याय को अध्यापक के रूप में स्वीकार करते हुए पूर्ण प्रतिष्ठा प्रदान की गयी है, वहीं आचार्य के समान ही उपाध्याय का सम्मान किया गया है जैसे कि—"तथा समादिष्टेऽध्यापयति" (आप० धर्म० सू० १/२/७/२८) । अर्थात् ब्रह्मचारी को गुरु अथवा आचार्य के समान ही, आचार्य के आदेश से अध्यापन करने वाले उपाध्याय के (अध्यापक) प्रति भी सत्कार करना चाहिये । यहाँ आचार्यवत् उपाध्याय का सम्मान करणीय है ।

महाभाष्यकार ने भी अपने भाष्य में अध्यापक के लिये उपाध्याय शब्द का ही प्रयोग किया है। जैसे कि—"एवमुक्त उपाध्यायेनोपाध्यायानीमपृच्छन्" म० भा० १/६/६६। यहाँ उपाध्याय की पत्नी को उपाध्यायानी शब्द से कहा गया है। कहीं तो उपाध्यायी शब्द का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु अध्यापन कर्म में प्रवृत्त महिला के लिये तो उपाध्याया शब्द का प्रयोग होता है। उपर्युक्त कथन से इतना तो स्पष्ट है कि उपाध्याय का सीधा सम्बन्ध अध्यापन कर्म से है ।

मानव-समाज में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में यदा-यदा प्रगति हुई है, उस प्रगति का श्रेय उपाध्याय वर्ग को ही रहा है । सामाजिक-चेतना को उजागर करने का उत्तरदायित्व उपाध्याय पर ही है किन्तु इसके साथ-साथ समाज के द्वारा उपाध्याय को पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त होनी चाहिये । हम देखते हैं कि विदेशों में आज भी उपाध्याय का जो सम्मान है वह सम्मान यहाँ नहीं है । अतः यदि मानव समाज की संरचना में चारूता का आधान करना है तो ब्राह्मण वर्ग के प्रतिष्ठित संभाग उपाध्याय को उचित सम्मान देना ही होगा ।

— ०-

वर्तमान परिस्थितियों में युवाओं की भूमिका

देव आशीष भट्टाचार्य
एम० एस-सी०, एम० ए० (प्रथम वर्ष)

आज मैं एक ऐसे विषय को छू रहा हूँ जिसका सीधा सम्बन्ध हम युवाओं एवं छात्रों से है । आज दुनियाँ में छात्र आन्दोलन हिचकोले खा रहा है, उसका भविष्य अनिश्चय की ओर है । आज जब हम अन्तर्राष्ट्रीय युवा वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं तो हमारा नैतिक दायित्व बनता है कि हम स्थिति पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करें और युवाओं एवं छात्रों के भविष्य का उचित समाधान ढूंढें ताकि युवा एवं छात्र, जो भविष्य का प्रकाशपुंज है तथा भावी विश्व का निर्माता है, कहीं वह एक ऐसे मार्ग को न अपना ले जहाँ उसका पतन अवश्यम्भावी हो जाए, बल्कि वह एक ऐसे मार्ग को चुने जिससे वह पूरी दुनियाँ में समता और समृद्धि की प्रतिधारा बहाए ।

यदि हम पूरी दुनियाँ के छात्र एवं युवा-समुदायों पर दृष्टि डालें तो पायेंगे कि दुनियाँ का युवा एवं छात्र कम से कम तीन या उससे अधिक भागों में बंटा है, इन तीनों ग्रुपों के कार्यरूप तथा व्यवहार में कहीं भी समानता नहीं । आखिर ऐसा क्यों? यह ठीक है और हम मानते हैं कि दुनियाँ का युवा कार्यरूप तथा व्यवहार में एक जैसा नहीं हो सकता क्योंकि वह अधिक आत्मिक विचारों, आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टिकोणों से काफी भिन्न है । फिर भी दुनियाँ में कुछ ऐसे ज्वलन्त प्रश्न हैं जिनपर दुनियाँ भर के सभी युवाओं का रुख एक जैसा होना चाहिए । आज विश्व एक ऐसे कगार पर पहुँचा हुआ है कि वह (विश्व) कब समाप्त हो जाये यह किसी को पता नहीं । दुनियाँ परमाणुवीय हथियारों की दौड़ मे इस प्रकार सम्मिलत हो गई है कि अनजाने में की गई एक छोटी भूल सम्पूर्ण मानवता के लिये अभिशाप बन सकती है । स्टार वार के रूप में एक ऐसी खतरनाक वैज्ञानिक प्रणाली का उदय हो रहा है जो सम्पूर्ण दुनियाँ को तबाह कर सकती है, मानवता को सड़ा-सड़ा कर मार सकती है । इतना सब कुछ हो जाने के बावजूद वह युवा एवं छात्र समुदाय जो दुनियाँ में सबसे अधिक प्रगतिशील एवं जागरूक व मानववादी होने का दम्भ भरता है, वह चरस, हैरोइन, स्मैक व कोकीन के नशे में धुत इन साम्राज्यवादी व सामान्ती शक्तियों से लड़ने के बजाय एक ऐसी हिप्पी व पलायनवादी संस्कृति का उदय कर रहा है जो स्वयं

उनके लिये तो घातक है ही, साथ ही में उनका यह विकृत रूप दुनियाँ के तीनों किस्म के देशों तथा विकासशील देशों के युवकों की मन:स्थिति को भी छल रहा है ।

यह थी उस युवा एवं छात्रसमुदाय की कहानी जिन्हें आर्थिक सम्पन्नता व अति सामाजिक जागरूकता खाए जा रही हैं । अब मुड़ते हैं अपने देश के युवा एवं छात्र समुदाय पर । अपने देश के युवा एवं छात्रसमुदाय को अपनी पुरातन पीढ़ी से मिली है साम्प्रदायिकता की आग, भाई-भतीजावाद का तूफान, भ्रष्टाचार का तूफान और बेरोजगारी का सैलाब और इन सबसे बच जाता है तो उस पर असहनीय चोट करती है मैकाले की वह शिक्षा पद्धति जिसे उसने एक साम्राज्यवादी षड्यन्त्र के तहत भारत के लिए, भारत को हमेशा ब्रिटिश उपनिवेश बनाये रखने के लिये तैयार किया था । और इस षड्यन्त्र को जारी रखे है हमारी यह वर्तमान समाजवादी लेबल वालो सरकार । आज की शिक्षा पद्धति कितनो उपहासपूर्ण है इस बात का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस शिक्षा पद्धति को भारत के राष्ट्रपति से लेकर आम नागरिक तक दोष देता है और उसमें आमूल परिवर्तन की बात करता है । पर इस परिवर्तन की हिम्मत नहीं जुटा पाता । शिक्षा के आमूल परिवर्तन से निहित स्वार्थों पर चोट पहुँचेगी । जिस दिन शिक्षा का कलेवर बदल जायेगा उसी दिन देश की शिक्षा बदल जाएगी, राजनीति की दिशा बदल जाएगी । साम्प्रदायिकता की आबोहवा में परिवर्तन आ जायेगा, आज युवकों को एकता कितनी भावात्मक व जज्बाती है इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि छोटा-मोटा भो शारीरिक संघर्ष साम्प्रदायिकता का स्वरूप ग्रहण कर लेता है और युवक इनका विरोध करने के बजाय जातीय, क्षेत्रीय व धार्मिक आधारों में बँट जाता है जिसके कारण इन ताकतों को, जो देश को एकता व अखण्डता को तोड़ना चाहते हैं, बल मिलता है । आज जरूरत है युवक व छात्र ऐसे मच से जुड़ें जिनकी सोच समाजवादी व मानववादी है । अगर युवक ऐसे संघों से जुड़ता है तो निश्चय ही वह उन ताकतों से लड़ने के लिये स्वत: आगे आएगा जो देश को एकता के लिए खतरा पैदा कर रहे हैं । आज मुझे खुशी इस बात को है कि देश की जनता ने एक ऐसे व्यक्ति को चुना है जो स्वच्छ व ईमानदार है । और जैसा माननीय प्रधानमन्त्री खुद अपने प्रसारणों में यह बार-बार आश्वासन दे भी रहे हैं कि जीवन के हर क्षेत्रों में आमूल परिवर्तन किया जाएगा, खासतौर से शिक्षा, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में, स्तुत्य है ।

परिसर-परिक्रमा

दयानन्द ने हिन्दी पत्रकारिता को नई चेतना दी !

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में दयानन्द निर्वाण शताब्दी व्याख्यान-माला के अन्तर्गत दयानन्द और हिन्दी पत्रकारिता पर पद्मश्री पण्डित क्षेमचन्द्र सुमन तथा दयानन्द और प्रेमचन्द पर ट्रिब्यून तथा स्टेट्समैन के पूर्व-सम्पादक तथा अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध हिन्दी लेखक जीवनीकार श्री मदनगोपाल के व्याख्यानों का आनन्द नगर के प्रबुद्ध नागरिकों, पत्रकारों तथा साहित्यकारों ने लिया। विश्वविद्यालय के कुलपति बलभद्रकुमार हूजा ने कहा कि दयानन्द यों तो बीसवीं शती के पूर्व नवचेतना तथा राष्ट्रीय जागरण का संदेश लेकर आए थे पर आज के मानवधर्म, लोकतन्त्र, सामाजिक समानता, नैतिक तथा राष्ट्र-वादी भावना और भारत की अखण्डता की रक्षा के माहौल में उनको प्रासंगिकता अधिक बढ़ गई है। स्वामी जी ने सुनहरे भारत के निर्माण की जो सभावनाएँ व्यक्त की थीं, उनकी पूर्ति की दिशा में प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी नये युग का शिलान्यास कर रहे हैं ।

भारत साधु समाज के मन्त्री डा० श्यामसुन्दर दास की अध्यक्षता में सम्पन्न प्रथम व्याख्यान संगोष्ठी में श्री क्षेमचन्द्र सुमन ने कहा कि स्वामी जो आधुनिक चेतना के प्रखर पुरुष थे। मिस्टर ग्रिफिथ और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की तरह भारतेन्दु की कविवचनसुधा के लेखक होते हुए उन्होंने आर्य विचारधारा के पत्रों के प्रकाशन की प्रेरणा दी। १८७० में शाहजहाँपुर से मुंशी बख्तावरसिंह ने उनकी प्रेरणा से आर्य समाज की स्थापना से पाँच वर्ष पूर्व आर्य दर्पण नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। १८८९ में स्वामी जी के शिष्य समर्थदान ने राजस्थान समाचार निकालकर आर्यभाषा के पत्रों को सर्वथा नई विचार-भूमि प्रदान की। उदयपुर से सज्जन कीर्तिसुधाकर भी उनकी प्रेरणा से प्रकाशित हुआ जो बाद में सरकारो गजट के रूप में परिणत हो गया। मेरठ में स्वामी जी छः बार आए और १८७८ में उनके प्रभाव से आर्य समाचार का प्रकाशन हुआ। स्वामी जी के निधन के पाँच वर्ष बाद स्वामी श्रद्धानन्द ने सद्धर्म प्रचारक का सम्पादन-प्रकाशन शुरू किया। गुरुकुल कांगड़ो की स्थापना तो जैसे हिन्दी पत्रकारिता के लिए वरदान सिद्ध हुई। उनके पुत्र इन्द्र जी ने दैनिक विजय, अर्जुन, नवराष्ट्र और जनसत्ता के सम्पादक के रूप में हिन्दी पत्रकारिता की जो नींव डाली, उसो पर आज उसका यह भव्य भवन खड़ा है। अपने ३६ पृष्ठों के सुन्दर मुद्रित भाषण में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का ब्यौरेवार विवरण देते हुए श्री सुमन ने बताया कि आर्य समाज ने हिन्दो पत्रकारिता को कितने नये आयाम दिए। भारत, सूरीनाम, फीजी, मारीशस, ब्रिटिश गयाना, बर्मा, थाइलैण्ड के पत्रों का जिक्र करते हुए विद्वान वक्ता ने हिन्दी पत्रकारिता के उन

अलभ्य तथा अज्ञात स्रोतों का परिचय दिया जिनसे शोधार्थियों का मार्गदर्शन हो सकता है। इस अवसर पर विश्वविद्यालय की त्रैमासिक शोध पत्रिका प्रह्लाद के 'श्रद्धानन्द, रामचन्द्र शुक्ल तथा इन्दिरा गाँधी स्मृति अंक' का विमोचन करते हुए श्री सुमन ने प्रह्लाद के सम्पादक डा० विष्णुदत्त राकेश को इस महत्वपूर्ण कार्य के लिये बधाई दी।

दूसरी व्याख्यान संगोष्ठी प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् आचार्य प्रियव्रत वेद-मार्तण्ड की अध्यक्षता में शुरू हुई। 'दयानन्द और प्रेमचन्द' पर बोलते हुए श्री मदनगोपाल ने कहा कि प्रेमचन्द पर दयानन्द का गहरा प्रभाव था। प्रेमचन्द आर्य समाज के बाजाब्ता सदस्य थे। वह १९२६ में गुरुकुल कांगड़ी आए थे और यहाँ से लौटकर उन्होंने माधुरी में गुरुकुल शिक्षा पद्धति पर अपने संस्मरणात्मक लेख भी लिखे थे। अपने निधन के कुछ ही माह पूर्व लाहौर आर्य समाज के अन्तर्गत आर्यभाषा सम्मेलन सभापति पद से बोलते हुए उन्होंने कहा था कि यह समाज के अन्तर्गत उन भाषाओं का सम्मेलन है जिनमें आय समाज ने धर्म का प्रचार किया है। मैं आर्य समाज को जितनो धार्मिक संस्था समझता हूँ, उतनी तहजीबी सस्था भी समझता हूँ। हरिजनों के उद्धार में सबसे पहले आर्य समाज ने कदम उठाया, लड़कियों की शिक्षा की जरूरत को सबसे पहले उसने समझा। जाति-भेदभाव और खान-पान के छूत-छात और चौके-चूल्हे की बाधाओं को मिटाने का गौरव उसी को प्राप्त है। और आर्य समाज ने हमारी भाषा के साथ जो उपकार किया है, उसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण यह है कि दयानन्द ने इसी भाषा में सत्यार्थ प्रकाश उस समय लिखा जब उसकी उतनी चर्चा न थी। श्री मदनगोपाल ने कहा कि भारतेन्दु ने एक ओर हरिश्चन्द्र मैगजीन में सहायक सम्पादकों की सूची में दयानन्द जी का नाम गौरव से छापा तो दूसरी ओर प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों और कहानियों के माध्यम से महर्षि का संदेश घर-घर पहुँचाया। उन्होंने गबन, प्रेमा तथा खूने सफेद के आधार पर एक ओर विधवा-विवाह, छुआछूत की समस्या को उठाया तो दूसरी ओर वरदान में नायक का चरित्र दयानन्द पर ढ़ाला। स्वामी दयानन्द और प्रेमचन्द दोनों राष्ट्रीय विचारधारा के महापुरुष थे। दोनों का आधार था हिन्दू-मुस्लिम मतभेदों को दूर करना। कायाकल्प में प्रेमचन्द की यही भूमिका स्पष्ट हुई। स्वदेशी के प्रचार में भी दयानन्द का संदेश प्रेमचन्द ही लेकर आगे बढ़े।

व्याख्यानमाला के संयोजक डा० विष्णुदत्त राकेश ने श्री क्षेमचन्द्र सुमन और श्री मदनगोपाल के कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए व्याख्यानमाला के उद्देश्य को स्पष्ट किया।

भोपालसिंह त्यागी
एम० ए० हिन्दी (प्रथम वर्ष)

गुरुकुल कांगड़ी में कुलपति सम्मेलन

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में १८, १९, २० जनवरी ८५ को आयोजित उत्तर-क्षेत्रीय कुलपति सम्मेलन के सम्पन्न होने से महर्षि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द तथा महात्मा गांधी की वह चिर-आकांक्षा साकार हुई कि अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों को समाज में समान स्तर प्रदान कर उन्हें राष्ट्र की मूल-धारा के साथ जोड़ दिया जाय। आर्य समाज अपने स्थापना काल से ही इस दिशा में प्रयत्नशील रहा पर विश्वविद्यालयीय स्तर पर आर्य समाज के इस कार्य को सार्वजनिक तौर पर समर्थन इस सम्मेलन में मिला। महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी के रचनात्मक अभियानों में यह एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। इस सम्मेलन में लखनऊ, फैजाबाद, गोरखपुर, पंतनगर-नैनीताल, काशी विद्यापीठ, कृषि विश्वविद्यालय हिसार, पंजाब विश्वविद्यालय, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, जामिया मिलिया, मेरठ, गढ़वाल तथा रुड़की विश्वविद्यालयों के कुलपतियों तथा कुलपति-प्रतिनिधियों ने भाग लेकर जहाँ अनुसूचित तथा पिछड़े वर्गों की समस्याओं पर शैक्षिक तथा आर्थिक संदर्भों में विचार-विमर्श किया, वहाँ गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की बुनियादी विशेषताओं तथा उनकी पूर्ति के लिये कुलपति बलभद्रकुमार हूजा द्वारा उठाए गए कदमों की भी भरपूर सराहना की।

भारतीय विश्वविद्यालय संघ की प्रेरणा से सम्पन्न इस सम्मेलन में शिक्षा के क्षेत्र में आरक्षण की नीति को दस वर्ष तक जारी रखने की सिफारिश करने के साथ-साथ, आरक्षण नीति के पुनर्मूल्यांकन की मांग की गई। विचारकों की दृष्टि में आरक्षण नीति का पुनर्मूल्यांकन आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, मनोवैज्ञानिक तथा राष्ट्रीय दबावों और उनके प्रभावों के तहत किया जाना चाहिए। सम्मेलन की यह आम राय थी कि आरक्षण का आधार आर्थिक पिछड़ापन, व्यवहारिकता, आवश्यकता तथा पर्याप्तता होने चाहिएँ, केवल जातिगत आधार नहीं। काशी विद्यापीठ के पूर्व कुलपति, पूर्व साँसद तथा प्रसिद्ध समाजशास्त्री डा० राजाराम शास्त्री ने विश्वविद्यालय में आयोजित संगोष्ठी में इस सिफारिश पर अपनी सहमति व्यक्त की। सम्मेलन द्वारा की गई अन्य मुख्य सिफारिशों में आरक्षित वर्ग के छात्रों के लिए तकनीकी तथा व्यवसायोन्मुखी शिक्षा अनिवार्य करने, मातृभाषाओं में प्रतियोगी परीक्षाओं में छूट देने, पूर्ण

शिक्षा के लिए प्रोत्साहन देने, अलग शिक्षा संस्थाएँ खोलने, इस वर्ग के छात्रों को मुफ्त भोजन, पुस्तकें, कपड़े, वजीफे, प्रशिक्षण के लिए विशेष कक्षाएँ तथा अन्तरिम पाठ्यक्रम चालू करने की योजनाएँ उल्लेखनीय हैं। सम्मेलन ने यह भी माँग की कि विश्वविद्यालयों में शिक्षक तथा विद्यार्थी अपने नाम के साथ जाति-सूचक शब्दों का प्रयोग न करें तथा समान स्तर और व्यवहार पर शिक्षा प्रदान करें। इसके लिए भावात्मक वातावरण भी बनाना होगा और एक मजबूत प्रचार तंत्र की स्थापना करनी होगी ।

इस तीन दिवसीय सम्मेलन का उद्घाटन बी० एच० ई० एल० के कम्प्यूटर हाल में श्री टी० एन० चतुर्वेदी, नियंत्रक तथा महालेखापरीक्षक, भारत सरकार ने दीपदान में दीप जलाकर तथा उद्घाटन भाषण देकर किया। श्री चतुर्वेदी ने आरक्षण को सभी वर्गों के विपुल किन्तु विपन्न लोगों के बच्चों के लिए आवश्यक बताते हुए कहा कि आरक्षण को प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर विशेष रूप से लागू करना चाहिए। उन्होंने कहा कि विकास किसको कितना मिला, इसी बात से माना जा सकता है और शिक्षा एक ऐसा माध्यम है जिसमें हमें अधिक से अधिक विकास मिल सकता है । इस माध्यम के सुधार की बड़ी आवश्यकता है। शिक्षा आज हमें जाति, धर्म, वर्ग, भाषा आदि परिस्थितियों से मुक्ति न दिलाकर हमारे स्वार्थों को तार्किक आधार दे रही है। विकास के लिए शिक्षा का न्यायपूर्ण बंटवारा जरूरी है। सम्मेलन के उद्घाटन-सत्र की अध्यक्षता लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति डा० आर० एस० मिश्र ने की तथा संगोष्ठियों के लिए प्रस्तावना-भाषण दिया श्री अंजना कुमार, संयुक्त सचिव भारतीय विश्वविद्यालय संघ ने।

गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलपति बलभद्रकुमार हूजा ने स्वागत भाषण में गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति को प्रतिपादित करते हुए कहा कि इस पद्धति को स्वीकार कर लेने से आरक्षण की समस्या ही नहीं रह जाती । गुरुकुल जाति-पाँति तथा असमानता से रहित समान स्तर, समान शिक्षा तथा समान विकास की धारा में क्रियात्मक विश्वास रखता है तथा पिछले ८५ वर्षों से राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत स्नातकों पर गर्व करता है जिनकी जात-पाँत का पता आज भी किसी को नहीं है और जो उद्देश्य के साथ राष्ट्रीय विकास के लिए समर्पित हैं। गुरुकुल विद्यालय के छात्र तथा कन्या गुरुकुल की छात्राओं ने सस्वर मंत्र पाठ कर मंगलाचरण किया ।

मुख्य समारोह में, जिसका संचालन डा० विष्णुदत्त राकेश, रीडर हिन्दी विभाग गुरुकुल कांगड़ी, कर रहे थे, वक्ताओं ने बार-बार इस बात पर जोर

दिया कि वर्तमान परिस्थितियों में आरक्षण जरूरी है, पर इसे अनिश्चित काल के लिए लागू रखना न्यायसंगत नहीं ।

सम्मेलन के समन्वयक प्रो० ओमप्रकाश मिश्र तथा सह-समन्वयक डा० राधेलाल वार्ष्णेय ने कुलसचिव श्री वीरेन्द्र अरोड़ा के सुदक्ष सहयोग से इस आयोजन को सफल बनाने में अथक् परिश्रम किया । सम्मेलन के प्रतिनिधियों ने अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कुलपति, कुलसचिव तथा समन्वयक को उनके व्यवस्थित आयोजन तथा आतिथ्यसत्कार के लिये मुक्त कंठ से बधाई दी ।

विविध परिचर्चा सत्रों में जातिगत असमानता के आधार, जाति की अवधारणा तथा वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आरक्षण की आवश्यकता और पुनर्मूल्यांकन की संभावनाओं पर विद्वानों ने अपने आलेख प्रस्तुत किए । एक परिचर्चा सत्र की अध्यक्षता पंतनगर के कुलपति डा० कृपानारायण, पूर्व सचिव उत्तर प्रदेश सरकार, द्वितीय सत्र की अध्यक्षता हिसार के कुलपति डा०एल०डी० कटारिया तथा समापन सत्र की अध्यक्षता आचार्य प्रियव्रत वेदमार्तण्ड, पूर्व कुलपति गुरुकुल विश्वविद्यालय ने की । विभिन्न संगोष्ठियों की बहस में हिस्सा लेने वालों में जामिया मिलिया के डा० गान्धी, फैजाबाद के डा० वाशी, गोरखपुर के डा० एल० बी० त्रिपाठी, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की डा० शान्ता कृष्णन, पंजाब विश्वविद्यालय के डा० वी० बी० भनोत तथा श्री एम० एल० भाटिया, रुड़की विश्वविद्यालय के डा० भरतसिंह, भारतीय विश्वविद्यालय संघ के संयुक्त सचिव श्री अंजनी कुमार, मेरठ विश्वविद्यालय के डा० ब्रजेन्द्र शर्मा, डा० कमलकान्त बुधकर तथा कु० निर्मल त्रेहन, काशी के डा० जी० शंकर, गुरुकुल के डा० हरगोपालसिंह, सदाशिव भगत, डा० विजय शंकर, डा० बी० डी० जोशी, डा० कृष्ण अवतार अग्रवाल, डा० सेंगर, लालनरसिंह नारायण, डा० नारायण शर्मा आदि विद्वान् प्रमुख रहे ।

प्रधानमन्त्री श्री राजीव गाँधी द्वारा शिक्षा की नीतियों में आमूल परिवर्तन करने की घोषणाओं के कारण यह सम्मेलन और इसके द्वारा की गई संस्तुतियाँ काफी महत्वपूर्ण सिद्ध होंगी । इससे पूर्व शान्ति निकेतन कलकत्ता, पूना तथा तंजौर में भी इस तरह के सम्मेलन हो चुके हैं । उत्तर भारत में इसी क्रम में चौथा सम्मेलन गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में हुआ ।

सम्मेलन में हिन्दुस्तान दैनिक, नवभारत टाइम्स दैनिक, जागरण, आज, पंजाब केसरी तथा पी०टी०आई० के संवाददाता भी उपस्थित हुए । सुप्रसिद्ध साहित्यकार तथा दिनमान के सम्पादक श्री कन्हैयालाल नन्दन, आकाशवाणी दिल्ली के श्री रमानाथ अवस्थी एवं आकाशवाणी नजीबाबाद के एस०हिन्दुवान ने तो बहस में भाग लेकर उसे प्राणवन्त बना दिया ।

कुलपतियों तथा सम्मेलन के प्रतिनिधियों के सम्मान में बी०एच०ई०एल० के महाप्रबन्धक श्री सी०एम० गुप्ता, उनके जन-सम्पर्क अधिकारी श्री चन्द्रकान्त सरदाना तथा अन्य अधिकारियों ने रात्रिभोज का आयोजन किया। तथा उससे पूर्व एक सांस्कृतिक सन्ध्या में दिल्ली पब्लिक स्कूल, केन्द्रीय विद्यालय, विद्या-मन्दिर इण्टर कालेज तथा आनन्दमयी सेवा सदन इण्टर कालेज के छात्र-छात्राओं ने राष्ट्रीय अखण्डता, भावात्मक एकता तथा युग-निर्माण की आकाँक्षा को जागृत करने वाले मनोहारी कार्यक्रम प्रस्तुत किए ।

यह पहला अवसर था जब कि नगर के विभिन्न वर्गों और क्षेत्रों के मान्य व्यक्ति आयोजनों में शामिल हुए तथा विश्वविद्यालय के विकास को देख कर इसलिए भी प्रसन्न हुए कि यह उनके नगर की उपलब्धि है। कनखल के प्रसिद्ध व्यवसायी तथा कांग्रेस के सक्रिय नेता श्री सुधीरकुमार गुप्ता ने प्रतिनिधियों के सम्मान में एक रात्रि भोज दिया जिसमें कुलपति हूजा तथा गुरुजनों के साथ उत्तरक्षेत्रीय विश्वविद्यालयों के कुलपति, प्रतिनिधि और नगर के सभ्रान्त नागरिक उपस्थित हुए। स्थानीय न्यायाधीश श्री अशोक कुमार सिंह इस अवसर पर विशेष रूप में उपस्थित थे। डा० काश्मीरसिंह भिण्डर तथा उनके सहयोगियों ने इस कार्यक्रम को सफलता के साथ सम्पन्न कराने में विशेष तत्परता दिखाई।

गुरुकुल विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में श्री जगदीश विद्यालंकार ने दिल्ली के पुस्तक विक्रेताओं के सौजन्य से एक अद्यतन पुस्तक प्रदर्शनी का आयोजन किया। इसका उद्घाटन श्री टी० एन० चतुर्वेदी ने किया । भारतीय विश्वविद्यालय संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का प्रदर्शन भी इस अवसर पर किया गया। इस प्रदर्शनी में वेद, संस्कृत, दर्शन, पुरातत्व संस्कृति, विज्ञान, मानविकी तथा शिक्षा प्रसार की सद्यः प्रकाशित शोध-स्तरीय पुस्तकें विशेष आकर्षण का केन्द्र रहीं।

इस सारे आयोजन को राष्ट्रीय स्तर के सभी हिन्दी, अंग्रेजी पत्रों ने प्रमुखता देकर रेखांकित किया। हिन्दुस्तान टाइम्स, टाइम्स आफ इण्डिया, इण्डियन एक्सप्रेस, हिन्दुस्तान दैनिक, नवभारत टाइम्स, जागरण, पंजाब केसरी, जनयुग आदि में समाचार प्रकाशित हुए तथा दिनमान में इसकी विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित हो रही है। स्थानीय अंग्रेजी साप्ताहिक हॉक ने विशेषांक प्रकाशित किया तथा स्थानीय दैनिक बद्री विशाल ने समाचार छापा। गुरुकुल पत्रिका, गुरुकुल प्रगति के विविध परिदृश्य वैदिक पाथ, प्रह्लाद तथा आर्य भट्ट के साथ अंग्रेजी तथा हिन्दी में विश्वविद्यालय की विकास-यात्राओं तथा सरकार द्वारा स्वीकृत योजनाओं और उनके तहत किये गये कार्यों का अंग्रेजी-हिन्दी में विवरण छाप कर सम्मेलन में वितरित कराया गया।

-०-

निकष पर

(पुस्तक–समीक्षा)

पुस्तक का नाम — **कामायनी एक सह-चिन्तन**
सम्पादक — **डा० वचनदेव कुमार, डा० दिनेश्वर प्रसाद**
प्रकाशक — क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली (२८ शापिंग सेन्टर, करमपुरा)
पृष्ठ संख्या — १६६, मूल्य ८०/-

कामायनी प्रसाद जी की सर्वाधिक चर्चित काव्य-कृति है। उपाधि सापेक्ष और निरपेक्ष दृष्टि से कामायनी पर अनेक आलोचना-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इतना होने पर भी नहीं कहा जा सकता कि कामायनी का काव्य-सौन्दर्य पूरी तरह उद्घाटित हो गया है। इसी कृति की यह विशेषता रही है कि एक ओर इस पर सर्जनाकारों ने विचार किया तो दूसरी ओर समीक्षकों की पैनी दृष्टि इसका हर कोना झाँक आई। निराला, पंत, दिनकर, मुक्तिबोध, आचार्य शुक्ल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० प्रेमशंकर, डा० फतहसिंह तथा डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना ने अपने ग्रन्थों में कामायनी के विविध परिदृश्यों का आकलन-विवेचन किया। कामायनी जैसी महान् कृति के लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। कामायनी के शब्दों में ही कहना चाहें तो कह सकते हैं—

मैं जभी तोलने का करती, उपचार स्वयं तुल जाती हूँ।

डा० वचनदेव कुमार सर्जक-समीक्षक हैं। उन्होंने परीक्षोपयोगी दृष्टि से भी यदि संकलन-सम्पादन-समीक्षण किया है तो उसमें भी स्तरीय गहरे अध्ययन की छाप दिखाई पड़ती है। उनके 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में यह बात बड़ी साफ देखी जा सकती है। 'कामायनी एक सह-चिन्तन' उनकी ऐसी ही कृति है जिसमें कामायनी के परम्परित और आधुनिक पक्षों पर, विवादास्पद पक्षों पर भी, गंभीर विचार हुआ है। यह पहला समीक्षा-संकलन है जिसमें विवेच्य कवि के समकालीन, समान विचारशील तथा समस्तरीय कवियों निराला और सुमित्रानन्दन पन्त से लेकर छायावादोत्तर प्रबन्धकार कवि रामधारीसिंह दिनकर तथा नई कविता के उन्नायक मुक्तिबोध तक के निबन्ध संकलित हैं। निराला का यह कथन कि हिन्दी के युगान्तर साहित्य के जो तीन प्रजापति हैं, उनमें प्रसाद जी की एक "श्रद्धा देवो वै मनुः" हैं। बाकी दो हैं, स्वर्गीय प्रेमचंद और बाबू मैथिलीशरण—इस तथ्य का परिचायक है कि कामायनीकार मात्र कवि नहीं, युगद्रष्टा साहित्यकार हैं। दो पृष्ठों के लघु लेख में निराला जी ने कामायनी की मूल चेतना को पकड़ने का प्रयत्न किया है, उनका यह निष्कर्ष कितना सटीक है कि मनुष्य-मन का इतना अच्छा चित्र जिस समझदारी के साथ इस पुस्तक में चित्रित हुआ, मैंने हिन्दी और बंगला के नवीन साहित्य में अन्यत्र नहीं देखा।

पंत जी के दो लेख 'यदि मैं कामायनी लिखता' तथा 'कामायनी पुनरावलोकन' भी इसमें संकलित हैं। पंत जी इस रचना की प्रबन्धात्मकता के प्रति आश्वस्त भी हैं और संदिग्ध भी। एक ओर वह कहते हैं कि छायावाद केवल स्वप्न सम्मोहन ही बनकर रह जाता यदि प्रसाद जी उसमें कामायनी जैसी महाकाव्य-सृष्टि की अवतारणा न कर जाते तो दूसरी ओर कहते हैं कि उसका कथानक संक्षिप्त रंग-मंच है, उसमें न विस्तार, न विवरण और किसी प्रकार की प्रगाढ़ता, हृदय-मंथन अथवा भावों के उत्थान-पतन की सूक्ष्मता भी नहीं है। हाँ, कला-चेतना की दृष्टि से कामायनी छायावादी युग का प्रतिनिधि काव्य कही जा सकती है। उद्देश्य की दृष्टि से भी वह किसी प्रकार का निदान प्रस्तुत नहीं करती अपितु 'आधुनिक युग के विकासवाद से काल्पनिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रेरणा-ग्रहण कर तथा अध्यात्म की दृष्टि से वह चिरप्राचीन व्यक्तिवादी, विकसित एवं समरस नित्य आनन्द चैतन्य का आरोहणमूलक आदर्श उपस्थित कर, भारतीय पुनर्जागरण के काव्ययुग के अन्तिम स्वर्ण परिच्छेद की तरह समाप्त हो जाती है।' जीवन-मूल्य, नवीनभाव-बोध, विज्ञान-भूमि, लोक साधना तथा विकासशील जीवन धारणाओं के अभाव में पंत जी इस कृति को अपूर्ण मानते हैं। पंत जी ने इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न 'लोकायतन' की रचना द्वारा किया पर यह एक उबाऊ तथा शिथिल काव्य-रचना है। हाँ 'सत्यकाम' को कामायनी की जोड़ की रचना कहा जा सकता है जिसमें छायावादी कलाबोध, प्रगतिवादी लोक-चेतना तथा नवभाववादी भागवती-चेतना का अपूर्व सामंजस्य हुआ है। दिनकर ने पंत जी के विपरीत अधिक विस्तार में जाकर बताया कि कामायनी का कथा-सूत्र विरल होता हुआ भी व्यापकता में कम नहीं है। उसका एक छोर यदि सभ्यता के आदिकाल में है तो दूसरा भविष्य के गहवर तक जाता है। पुनरुत्थान के लक्षणों की बहुविध अभिव्यक्ति जहाँ उसमें हुई है, वहीं परम्परित यती-धर्म तथा निवृत्तिमूलक पलायन का खण्डन भी हुआ है। छायावादी कारीगरी की दृष्टि से पंत के ही समान दिनकर भी इस कृति का महत्त्व स्वीकार करते हैं। पर इसकी भाषागत दुर्बलताओं को अंकित करते हुए भी कहते हैं कि कामायनी में खड़ी बोली का जितना असमर्थ रूप प्रकट हुआ है उतना असमर्थ रूप किसी और काव्य में नहीं मिलता। मुक्तिबोध ने यथार्थवादी शिल्प तथा उसके आधार पर भावपक्ष के उद्घाटन की दृष्टि से इस कृति के दोषों का परीक्षण किया है। वास्तविक जीवन-जगत् को उसके वास्तविक सम्बन्धों के साथ ग्रहण कर सकने की प्रक्रिया का यहाँ पूर्ण निर्वाह नहीं हो सका। रोमांटिक भाव-प्रधान आत्मवादी कला ही कामायनी की मूल चेतना है। समाज और विश्व के प्रति इसमें प्रसाद की निजी प्रतिक्रियाएँ समाहित हैं जो एक फेन्टेसी में उनके इच्छित विश्वासों का प्रतीक हैं। कामायनी के गुण-दोषों पर इन महान् कवियों की प्रतिक्रियाओं का लेखा-

जोखा प्रस्तुत कर सम्पादकों ने इन आक्षेपों के समाधान के रूप में शेष बारह निबन्धों का संकलन किया है। एक प्रकार से वाद प्रस्तुत कर परोक्ष शैली में प्रतिवाद प्रस्तुत करने की योजना सराहनीय है । अच्छा होता, इन निबन्धों की रचना तिथि भी साथ दे दी जाती । पाठकों को पता चलता कि कामायनी के प्रकाशन के बाद कामायनी की सबलता और दुर्बलता का प्रतिपादन उसके व्यापक विश्लेषण की क्रमबद्ध राह कैसे बनाता चला गया ? विरोध करते हुए भी सर्जनाकार वैसी कृति नहीं लिख सके । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी शायद इसी कारण अपने निबन्ध 'कामायनी सर्वेक्षण' में लिखते हैं कि कामायनी के कवि में और जितने भी दोष हों, वह नख से शिख तक मौलिक है। उसकी मौलिकता कभी-कभी जटिल और दुर्बोध तक हो जाती है।

पुस्तक के द्वितीय खण्ड में आचार्य शुक्ल, आचार्य वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, आचार्य द्विवेदी, डा० स्नातक जैसे प्रतिष्ठित समीक्षकों के लेख हैं जिनमें कामायनी के वृत्त, कला, रूपकतत्त्व तथा दार्शनिकता पर विचार निहित हैं । मिथकीय प्रतीकात्मकता पर डा० दिनेश्वरप्रसाद, छन्द विधान पर डा० विमल कुमार जैन एवं भाषा पर डा० बालेन्दु शेखर तिवारी के लेख संकलित हैं। डा० रमेश कुन्तल मेघ, डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, डा० वचनदेव कुमार तथा डा० रामचन्द्र प्रसाद के लेखों में कृति के रचना-गठन, कार्य-व्यापार, उसे व्यंजित करने वाली बिम्बमाला, सांस्कृतिक संकट, समकालीन जीवनानुभव, सर्जनात्मक भाषास्तर तथा रचनात्मक स्वायत्तता का विवेचन हुआ है।

तुलनात्मक दृष्टि से डा० वचनदेव का लेख मानस और कामायनी तथा विश्वमहाकवियों के पार्श्व में प्रसाद की प्रतिष्ठा करने के उद्देश्य से लिखा गया डा० रामचन्द्र प्रसाद का निबन्ध कामायनी—विश्वमहाकाव्य के संदर्भ में पठनीय हैं। एक बात समझ में नहीं आई यदि रामचरितमानस देश और काल की सीमाओं को लाँघने वाला काव्य है और कामायनी में यह विशेषता नहीं है तो फिर दोनों की तुलना ही क्यों की गई ? मानस की लोकग्राह्य चेतना और कामायनी की सुजनग्राह्य चेतना के मूल अन्तर से भी दोनों कृतियों की तुलना बेमेल है । अच्छा होता, कामायनी को उनके समकालीन और परवर्ती समानधर्मा कवियों की महत् काव्य-कृतियों के परिप्रेक्ष्य में पढ़ा-समझा गया होता। डा० रामचन्द्र प्रसाद ने शैलीगत औदात्य की दृष्टि से कामायनी की पैराडाइज लास्ट से तुलना ठीक की है। वर्जिल के 'इनीड़' का विषय कामायनी का वर्ण्य नहीं है परन्तु इसमें भी अस्तित्व की जटिलता का वैसा ही चित्रण हुआ है जैसा वर्जिल के महाकाव्य में। जो लोग दाँतेप्रणीत 'डिवाइन कॉमेडी' से कामायनी की तुलना करते हैं, वे ठीक करते हैं। लेखक तुलना करते हुए स्पष्ट

कहते हैं कि दोनों महाकाव्य अन्यापदेशिक, रूपकात्मक तथा आध्यात्मिक हैं, दोनों का वर्ण्य आत्मा का परम तत्त्व की ओर आरोहण है । सारांश यह कि कामायनी और डिवाइन कॉमेडी दो भिन्न परम्पराओं की देन होकर भी तात्त्विक तथा रचनात्मक शैली की दृष्टि से समान हैं । डा० प्रसाद कामायनी के संदेश को गेटे के फाउस्ट में समान रूप से प्रतिबिम्बित देखते हैं ।

सम्पादक की लेखचयनदृष्टि विशद् और व्यापक है । उन्होंने नये-पुराने समीक्षकों के बहुविध दृष्टिकोण उपन्यस्त करने की दृष्टि से इन निबन्धों का चयन किया है । डा० प्रेमशंकर तथा डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना प्रसाद काव्य के अध्येताओं में रेखांकित किए जाते हैं, उनके निबन्धों का न होना खलता है । कामायनी के अर्थगर्भित पक्षों का, सर्जनात्मक क्षमता का, भाविक सौन्दर्य और वस्तुसंरचना का जितना प्रामाणिक, संक्षिप्त किन्तु संतुलित विवेचन इन निबन्धो में मिलता है, पाठक को उसके लिए अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नही पड़ती । ऐतिहासिक, आध्यात्मिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक वैचारिक यात्राओ के पड़ाव में 'कामायनी का सहचिन्तन' पाथेय सिद्ध होगा, इसमें दो राय नहीं ।

यह सह-चिन्तन भारतव्यापी विद्वानों का है जिनमें काशी, प्रयाग, दिल्ली, पंजाब, बिहार के प्रमुख हस्ताक्षर सकलित हैं । इस महत्वपूर्ण सम्पादन के लिए डा० वचनदेव कुमार तथा डा० दिनेश्वरप्रसाद बधाई के पात्र हैं । डा० कुमार सर्जक-समीक्षक हैं और डा० प्रसाद ने 'प्रसाद की विचारधारा' लिखकर ख्याति अर्जित की है ।

– डा० विष्णुदत्त राकेश

—०—

मूल्योन्मुख शिक्षा

पराधीन भारत में विदेशी शासकों तथा उनके पिछलग्गू इतिहासकारों ने भारतीय संस्कृति और इतिहास को तोड़-मरोड़ कर भारतीय जीवन का जो विकृत चित्र उपस्थित किया, उसने नवयुवकों में मानसिक दासता, हताशा, घुटन और क्लीवता को कूट-कूट कर भर दिया। महर्षि दयानन्द ने भारतीय इतिहास की पुर्नरचना की आवश्यकता अनुभव करते हुए स्वतन्त्र, समृद्ध तथा साँस्कृतिक दृष्टि से सम्पुष्ट राष्ट्र की अवधारणा इसीलिए प्रस्तुत की और स्वामी श्रद्धानन्द ने राष्ट्रध्येयोन्मुख शिक्षा को ठोस रूप देने के लिए गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया। १९ मई १९०० ई० को गुजरानवाला में भक्त आनन्दस्वरूप की वाटिका में गुरुकुल की स्थापना हुई। स्वामी जी के पुत्र हरिश्चन्द्र तथा इन्द्रचन्द्र प्रविष्ट होने वाले पहले ब्रह्मचारी थे और व्याकरण तथा दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् पण्डित गंगादत्त जी प्रथम आचार्य। २ मार्च १९०२ को यह बिरवा हरिद्वार से पाँच मील गंगा के पूर्वीय तट पर घने जंगलों के बीच साफ किए दो बीघे मैदान में रोप दिया गया और १९२४ की बाढ़ के बाद इसे वर्तमान परिसर में १९३० के अप्रैल में स्थानान्तरित कर दिया गया। अब गुरुकुल एक विशाल वट वृक्ष बन चुका था तथा ब्रिटिश शासन के विदेशी प्रभाव से मुक्त, स्वतन्त्रचेता राष्ट्रभक्त स्नातकों का निर्माण कर, राष्ट्र की प्रमुख धारा में जुड़ चुका था। दीनबन्धु एन्ड्रूज, महात्मागाँधी, महामना मालवीय, श्रीमती एनी बेसेन्ट, पण्डित मोतीलाल नेहरू, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, डा० राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य क्षितिमोहन सेन, महाकवि रविन्द्रनाथ टैगोर, आचार्य नरेन्द्रदेव तथा डा० सम्पूर्णानन्द जैसे विचारक गुरुकुल की राष्ट्रीय गतिविधियों के प्रशंसक और समथक रहे हैं। महात्मा गाँधी तो गुरुकुल से इतने प्रभावित थे कि अफ्रीका के फोनिक्स आश्रम के विद्यार्थियों के साथ जब वह भारत आए तो अहमदाबाद में अपने पृथक् आश्रम के खुलने तक वह गुरुकुल में ही रहे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ तब राष्ट्रध्येयोन्मुखी शिक्षा के केन्द्र थे और यही तत्कालीन आवश्यकता भी थी।

आज प्रधानमन्त्री श्री राजीव गाँधी और शिक्षा मन्त्री श्री कृष्णचन्द्र पंत प्रचलित शिक्षा प्रणालियों की खामियों का अनुभव करते हुए इसे आमूल-चूल बदलने की बात कह रहे हैं। भ्रष्टाचार, अनुशासनहीनता, अराष्ट्रीयता, अलगाववाद तथा जातिगत भेदभाव के बढ़ते हुए माहौल में विश्वविद्यालय व्यर्थ

मालूम पड़ने लगे हैं। प्रतिभाओं के विदेश में पलायन की बढ़ती हुई प्रवृत्ति तथा वैज्ञानिकों, इन्जीनियरों, डाक्टरों तथा बुद्धिजीवियों का आक्रोश तथा कभी-कभी आत्मघात और बेरोजगार उपाधिधारी युवकों का सड़कों पर मार्चपास्ट शिक्षा के खोखलेपन को उजागर कर रहा है। गत वर्षों में नारा दिया गया कि शिक्षा को व्यवसायोन्मुखी बनाया जाए पर आज भी हम जहाँ के तहाँ हैं। हर क्षेत्र में यह अनुभव गहरा हो रहा है कि नैतिक-मूल्यों और चरित्र का पतन जितनी तेजी से हो रहा है, उसे कैसे रोका जाए? शिक्षणालय तोड़-फोड़ की राजनीति से कैसे मुक्त हों और अध्यापक तथा विद्यार्थी राष्ट्र-निर्माण की धारा से जुड़कर किस तरह जीवनोपयोगी तथा समाजोपयोगी कार्यों में दत्त-चित्त हों? स्पष्ट है कि शिक्षा को अब मूल्योन्मुख होना चाहिए। जब तक मानव-मूल्यों और शिक्षा में अन्त:सम्बन्ध स्थापित नहीं होगा तब तक चरित्र के पतोन्मुख पोत की रक्षा नहीं हो सकती। मानव मूल्य यद्यपि सनातन तथा देशकालातीत हैं तथापि उनका स्पष्टीकरण तथा व्यवहारीकरण आवश्यक है। शिक्षा पोथियों तक ही सीमित न होकर जब समाज के स्तर पर प्रसारोन्मुख होती है तब इन मूल्यों के जीवन में अवतरण की आवश्यकता अनुभव होती है। रोजी-रोटी के साथ साधकों की पवित्रता का होना भी नितान्त जरूरी है। बालक के दैहिक, बौद्धिक, भावात्मक विकास के साथ-साथ उसका मनोविकास तथा आत्मविकास भी होना चाहिए। अत: शिक्षा का एक ऐसा व्यापक कार्य-क्रम तैयार होना चाहिए जो उसके चरित्र और व्यक्तिगत क्षमताओं के विकास के साथ उसमें निहित 'पूर्ण मानव' को उजागर कर सके। इसके लिए मानवीय मूल्यों के शिक्षण का व्यापक पाठ्यक्रम तैयार करना होगा जिसमें संकीर्ण रांष्ट्रवाद के विपरीत, मजहब और सम्प्रदाय के विरुद्ध तथा जाति-पाँति, वर्ग-भेद से ऊपर उठ कर मानवतावादी वृत्तियों के विकास में सहायता मिले। आत्मनिर्भरता तथा आत्मनिपुणता के साथ सामाजिक निपुणताएँ अर्जित करना भी उसके लिए आवश्यक है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, स्वास्थ्यरक्षा, शुचिता, आहार-विहार, स्वावलम्बन, राष्ट्रीय परिधान, नियमपालन, ईमानदारी, सामाजिक न्याय, बंधुता, मित्रता, सौहार्द, सहिष्णुता, कर्त्तव्यनिष्ठा, दायित्वबोध, प्रेम, भक्ति तथा सहजीवियों के विकास की चिन्ता उसकी व्यावहारिक शिक्षा के अंग हों। ग्राम-सेवा, रोगी-सेवा तथा समाजसेवा उसके पाठ्यक्रम के अनिवार्य हिस्से हों। कल्याणकारी राज्य के लिए शिक्षा का आध्यात्मिक तथा सार्वजनीन आधार स्थापित होना जरूरी है। इसके लिए भारतीय संस्कृति के सार्वभौम तत्वों का क्रमबद्ध स्पष्टीकरण, धर्मनिरपेक्ष दृष्टि के सदर्भ में इतिहास का अध्ययन, सभी धर्मों के मूल-भूत समानता रखने वाले तत्वों की व्याख्या, स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, सामूहिक गतिविधियों में अधिकाधिक भाग लेने की प्रवृत्ति का प्रोत्साहन, सामूहिक गतिविधियों द्वारा चरित्र निर्माण, विश्व के

महामानवों की जीवनियों का अध्ययन तथा मानवीय मूल्यों से समन्वित विज्ञान, मानविकी तथा तकनीकी शिक्षा का उपयोग पाठ्यक्रम का रूप होना चाहिए। सामूहिक कार्यक्रमों से न्याय, सहिष्णुता, समानता तथा त्यागभाव को सीखने में सुविधा होती है। ऐतिहासिक राष्ट्रीय स्थानों की सरस्वती यात्रा, पुस्तक प्रदर्शनी, पत्रिकाओं का सम्पादन-प्रकाशन, मॉडल तैयार करना, नदी, बाँध, पर्वत, तथा भौगोलिक महत्व के वनों तथा स्थानों का सर्वेक्षण, विज्ञान मेला, तकनीकी कार्यशाला, विधानसभा तथा संसदीय कार्यप्रणाली का अवलोकन और समय-सारणी की पाबन्दी उसे बहुश्रुत, बहुअधीत तथा जीवनोपयोगी बनाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। शिक्षण-साधन के प्रकारों में भी ग्रामोफोन रेकार्ड, टेप, टी०वी०, फिल्म प्रोजेक्टर, रोलप्ले, चित्रपट शिक्षण तथा मानवमूल्यों के चार्ट और तस्वीरें सहायक हो सकती हैं। वस्तुतः शिक्षा सत्याचरण और सत्यान्वेषण की निरन्तरता है अतः उसके व्यक्ति-विकास तथा समाज-विकास के उद्देश्य को पृथक्-पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। मानव धर्म, सामाजिक आचरण, सामाजिक न्याय, शांति तथा प्रेम वे मूल तत्व हैं जिनसे समन्वित शिक्षा मनुष्य का सर्वांगीण विकास कर सकती है। आज यदि प्रचलित शिक्षा में परिवर्तन करना है तो उसे मूल्योन्मुखी बनाना जरूरी होगा।

खुशबू का एक शिलालेख डूब गया

हिन्दी के प्रसिद्ध गाँधीवादी कवि भवानीप्रसाद मिश्र नहीं रहे। उनका जन्म २९ मार्च १९१३ को होशंगाबाद की तहसील सिवनी के टिगरिया ग्राम में हुआ था। १९३४-३५ में उन्होंने बी० ए० किया। हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी उनके प्रमुख विषय थे। इसके बाद स्वतन्त्रता आन्दोलन में कूद पड़े। ४२ में गिरफ्तार तथा ४५ में जेल से छूटे। जेल से छूटकर महिला आश्रम वर्धा में अध्यापक हो गए। मिश्र जी के प्रिय ग्रन्थों में गुप्त जी की भारत-भारती तथा लाला भगवानदीन की वीर पंचरत्न के अलावा कानपुर के रायदेवीप्रसाद पूर्ण की रचनाएँ थीं। १९३० से नियमित रूप से कविता लिखनी प्रारंभ की। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ कलकत्ता से हिन्दूपंच में प्रकाशित हुईं। मिश्र जी हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, मराठी, बंगला के अच्छे जानकार थे। १९३२-३३ में पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी के सम्पर्क में आए तथा कर्मवीर में रचनाएँ भेजने लगे। कलकत्ता से ही हेमचन्द्र जोशी तथा प्रभातचन्द्र शर्मा के सम्पादन में प्रकाशित 'आगामी कल' में भी उनकी रचनाएँ छपीं। अज्ञेय और अमृतराय इन रचनाओं से प्रभावित हुए। ४५ के बाद हँस में रचनाएँ छपीं और अज्ञेय जी ने दूसरे सप्तक में उनकी रचनाएँ छापीं। १९५३ में गीतफरोश नामक संग्रह छपा जिसकी प्रसिद्ध कविता 'जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ, मैं किसिम-किसिम के गीत बेचता हूँ' सम्मेलनी कवियों पर व्यंग थी। रचनाकार को यथार्थस्तर पर

जोवन-निर्वाहगत कठिनाई को लक्षित करते हुए उन्होंने कहा था कि यश-सम्मान आत्मप्रवंचना है। रचना से धरातल से उतर कर सामान्य जीवन जीने से कितने अन्तर्विरोध हैं—

है गीत बेचना वैसे बिलकुल पाप
क्या करूँ मगर लाचार
हार कर गीत बेचता हूँ।

जीविका के सिलसिले में हैदराबाद,* मद्रास, बम्बई और दिल्ली घूमे और अन्त में गांधी वाङ्मय के सम्पादन के सिलसिले में शांति प्रतिष्ठान से जुड़ गए। खादी में लिपटे भवानी भाई खादी को वस्त्र नहीं, विचार मानते थे। उन्होने कविता को जड़ता की व्याकरणपरस्त भाषा से अलग कर आम आदमी के साथ जोड़ा और कहा कि कविता यदि जन-जीवन की अभिव्यक्ति है तो उसे जन-सामान्य की ही तरह होना भी चाहिए—

जिस तरह हम बोलते हैं उस तरह तू लिख,
और हम से बड़ा बन कर दिख।

कविता को आत्मीयतापूर्ण पाठक दिलाने का जो सिलसिला बच्चन से शुरू हुआ था वह भवानी भाई में जन-वाणी बनकर गुंजित हुआ। जिंदगी को यदि कविता के बोल सुनते हुए बार-बार दुहराने की इच्छा न हो तो वह शब्दों से लदी फंदी बोझ की गठरी है। तात्कालिक संदर्भों से जुड़कर भी उसमें आत्मा की गूँज होनी चाहिए। उनका कहना था—

ये कमल के फूल लेकिन मानसर के हैं
मैं इन्हें हूँ बीच से लाया, न समझो तीर पर के हैं
भूल भी यादें अछूती भूल हैं
मानसर वाले कमल के फूल हैं।

मिश्र जी की प्रमुख रचनाएँ हैं—गीतफरोश, चकित है दुःख, अँधेरी कविताएँ, गाँधी पंचशतो, बुनी हुई रस्सी, खुशबु के शिलालेख तथा त्रिकाल संध्या। त्रिकालसंध्या 'आपात्काल' की रचनाएँ हैं। सींखचों के बीच भी वह मानवमुक्ति के उद्‌गाता रहे। मन्त्र की सम्पूर्ण गरिमा को उन्होंने चरितार्थ किया। दो वर्ष पूर्व भारतमाता मन्दिर में उनका पदार्पण हुआ था। श्री कमल कान्त बुधकर उन्हें लेकर आए थे। जीवन के थपेड़ों से टूटे हुए किन्तु खादी जैसे निर्मल शब्दों के खुशबू वाले शिलालेख के रचयिता को प्रणाम कर पाने का अवसर कम पुण्य की बात नहीं थी। आज जब वह दिवंगत हो गए हैं तो उन्हें

एक जगह बाँधकर कैसे रखा जा सकता है ? कविकर्म की पेचीदी से शब्दों को खुला रूप देकर उन्होंने कविता और जीवन को सहजता दी। कविता और सामाजिक निष्ठा उनकी अन्त तक सहधर्मिणी रहीं। उनका उद्घोष था—

घटनाएँ हम तक आएँ
इससे अच्छा है कि हम घटनाओं तक जाएँ ।

—o—

गुरुकुल के स्नातक श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार नहीं रहे

हिन्दी के प्रसिद्ध पत्रकार, नाटककार, निबन्ध तथा कथाकार श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का जन्म १८०६ में मुजफ्फरगढ़ जिले में हुआ । हिन्दी में सोमर सैट माम की कहानियों के शिल्प-सौन्दर्य का अवतरण उनकी कहानियों से हुआ। पाश्चात्य शिल्प और तकनीक का उपयोग उन्होंने नाटकों में भी किया है। उनके कथा-संग्रहों में 'वापिसी', एकांकियों में कास्मोपोलिटन क्लब तथा सम्पूर्ण नाटकों में अशोक, देव और मानव तथा न्याय की रात प्रसिद्ध हैं। गुप्त जी में काव्यात्मक भावुकता अधिक है और इसीलिए कहानियों और एकांकियों में वह जितने सफल हुए हैं, उतने सम्पूर्ण नाटकों में नहीं । १८३८ में हँस का एकांकी विशेषांक निकला। एकांकी के शिल्प पर श्री विद्यालंकार ने ७ आपत्तियाँ उठाकर एकाँकी की उपयोगिता और तकनीक को व्यवस्थित किया। यह लेख इसलिए भी महत्त्वपूर्ण रहा कि इसके बाद एकांको का साहित्य में स्वतन्त्र स्थान बन गया और उसका तकनीक व्यवस्थित हो सका । श्री गुप्त के गुरुकुलीय संस्कार इतने प्रखर रहे कि उन्होंने अपने एकांकियों में आधुनिकता पर प्रहार करते हुए व्यावहारिक आदर्श की प्रवृत्तियों को प्रमुखता दी। नाटकों में सामाजिक विघटन और द्वन्द्व की स्थितियों को विश्वसनीय रूप से प्रस्तुत करने के लिए भी उन्हें याद किया जाएगा। गोरा, बचपन, संदेह, आँसू, शराबी, पगली, ताड़ का पत्ता तथा मास्टर जी उनकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं ।

श्री विद्यालंकार, डा० सत्यकेतु जी के समय क्रान्तिकारी साहित्यकार श्री मन्मथनाथ गुप्त, श्री विष्णुप्रभाकर प्रभृति साहित्यकारों के साथ गुरुकुल कांगड़ी आए थे । उनका भाषण भी हुआ था। आज उनके निधन पर हम एक रिक्तता का अनुभव करते हैं। गुरुकुल के कारण वह हमारे अग्रज हैं और हिन्दी-सेवा के कारण वह हमारे नायक। ऐसे सहृदय, साहित्यिक मित्र तथा निश्छल साहित्यकार को श्रद्धाँजलि अर्पित करते हुए लेखनी स्वयं पवित्र हो रही है।

—विष्णुदत्त राकेश

—o—